वेदान्त दर्शन

भाष्य कर्ता

श्री० स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

समर्पण-पत्र

जिन की अखण्ड विद्वत्ता ने समस्त संसार को चकित कर दिया। जिन्होंने वेदादि सत् शास्त्रों के प्रचार में सतत सफल उद्योग करके अपने आत्मिक बल द्वारा फिर से जगत में एक नूतन युग स्थापन किया, जाग्रति और कर्मण्यता का पाठ पढ़ाया। जिनकी कृतज्ञता का भार प्राणी मात्र पर सदैव ऋषि-ऋण रूप रहेगा उन्हीं आदित्य ब्रह्मचारी ऋषि

दयानन्द सरस्वती जी

की दिवंगत आत्मा की स्मृति उपलक्ष्य में सादर-सप्रेम समर्पित

विनीत—गोकुल चन्द्र दीक्षित

* ओ३म् *

आत्मनिवेदन

भारत वष में अन्य देशों की अपेक्षा ब्रह्म वाद अधिक है। क्या बालक क्या वृद्ध सब वेदान्त की चर्चा अपने जीवन के दैनिक व्यवहार में आने वाले कार्यों में कर बैठते हैं दूसरे शब्दों में भारत देश जैसा ईश्वर भक्त आस्तिक देश अन्य नहीं अथवा यों भी कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी कि यहाँ किसी समय ब्रह्म वाद इतना बढ़ा चढ़ा था कि आज कल हम इस गिरी दशा में भी इतना अधिक जानते हैं कि यदि आप एक अपठित किसान से भी जीव, ब्रह्म अथवा प्रकृति के विषय में कुछ पूछें तो इतना वह अवश्य उत्तर देगा ही कि "कर्म प्रधान विश्व रच राखा जो जस करै सो तस फल चाखा" अर्थात् कर्ता जीव ही भोक्ता है अन्य कोई वस्तु नहीं। जड़ प्रकृति को माया अर्थात् परिणामिनी जानते हैं और परमेश्वर को कर्म फल का देने वाला मानते हैं। इन्हीं भावों को देखते हुए हमें इन में अटूट श्रद्धा बढ़ जाती है मेरा बहुत दिनों से विचार था कि जीव ईश्वर और प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ लिखा जावे। अचानक मुझे श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती जी कृत "वेदान्त दर्शन" मिला जो पहिले पोठोहार गुरुकुल (पंजाब) से वैदिक फ़िलासफ़ी के नाम से प्रकाशित हुआ था। मैं श्री स्वामी जी के ग्रन्थों में अधिक रुचि इस लिये रखता हूं कि सरल शब्दों में गहन विषय को हस्ता-मलकवत बतलाने वाला यदि किसी का कर्म है तो उक्त स्वामीजी

का है। यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है परन्तु उर्दू में था यह बड़ा कलंक था कि आर्य भाषा में उक्त भाव व्यक्त न किये जावें! मैंने उसे वेदान्त जिज्ञासुओं के लिये आर्य भाषा में लिख दिया है। स्वामी जी वैदिक धर्म के परम प्रेमी थे उनकी लेखनी से वैदिक सिद्धान्त की अनवरत धारा प्रवाहित होती थी और यह उन्हीं का प्रयास है कि जिसका रसास्वादन आप कर रहे हैं। मैं ने वेदान्त के रहस्य जताने वाली व्याख्या अन्त में नियोजित की है वह उन वेदान्त प्रेमियों के लिये अधिक उपयोगी होगी कि जो वेदान्त पर जो भारतीय भिन्न २ आचार्यों के मत हैं वह किस प्रकार हैं मूल वेदान्त तत्व को कैसी उक्तियों और हेतुओं से स्वसिद्धान्त समर्थक बना कर पन्थ की नीव डाल दी हैं। वेदान्त दर्शन मतों की नींव है। त्रैवाद (जीव, ई , प्रकृति) ही सब सम्प्रदायों में व्याप रहा है इसी के फैले विचारों से सृष्टि में नाना प्रकार के मतों की रचना होकर भारत वर्ष बारह बाँट हो गया है। वस्तुतः बात कुछ है । कही किसी प्रकार गई है, भाव कुछ है परन्तु उसको इस प्रकार कतर व्योंत कर कुछ का कुछ "कठिया तोड़ मठिया" बनाया गया है कि ईश्वर भक्ति के स्थान में नास्तिकता और ईश्वर अविश्वास व्याप्त हो रहा है। जीव ब्रह्म के अभेद ने उपासना को धक्का पहुंचाया सो तो एक बात है वर्णा श्रम धर्म के अनुकूल वेदपाठ, यज्ञ, ब्रह्मचर्य और गृहस्थ तथा वाणप्रस्थ धर्म लोप हो गया। जीव ही ब्रह्म है फिर कौन किस को किस लिये उपासना करे । तद्भिन्न कोई पदार्थ नहीं। प्रकृति-माया मिथ्या भ्रान्तिवत है इस से संसार से मोह जाता रहा अपना पराया नष्ट हो कर साधु बन बैठे संसार में मिथ्या सन्यास और मिथ्या भक्ति की जड़ पड़ गई और

व्यवहारिक कार्यों में हम कर्त्तव्य हीन परा मुखा पेक्षी हो गये। चाहे जीवन व्यतीत करने को रंगे वस्त्र और दण्ड कमण्डल रखना ही पड़े परन्तु हमें यह सब मिथ्या है इस के भाव ने हम में से देश भक्ति, समाज भक्ति और व्यवहार साम्यता का नाश कर दिया। हम किस के लिये साम्राज्य स्थापन करें विद्या पढ़ें, और भौतिक विज्ञान प्राप्त कर संसार को सुखमय कम से कम जीवन पर्यन्त तो बनाने के स्थान में शिवोऽहं केवलमेऽहं की ध्वनि में मिथ्या प्रकृति के जंगल में मिथ्या ...लन में भग... मिथ्या झोपड़े डाल कर मिथ्या अहार करते हैं ...ते हुये परस्पर ए शिवोऽहं' होते हुए न जाने किस का चितवन करने के लिये परि... ...जकाचार्य हो जाते हैं जब सब का वही प्रधान कारण और सब उसी से बनते और बिगड़ते हैं परन्तु न जाने ऐसे भाव वाले किस को, किससे, किस के लिये "क्या" जान कर मोक्ष लाभ करते हैं यह मोक्ष किस बट्ट की है! क्यों मोक्ष की साधना है!! इत्यादि इत्यादि साधारण तर्क उपस्थित होते हैं। इस लिये इस ज्ञान के लिये वेदान्त दर्शन अनुपम पथ प्रदर्शक है। सब को विचारना चाहिये।

अन्त में, मैं निवेदन करूंगा कि यह उर्दू अनुवाद भी स्वामी जी ने श्री मद्दयानन्द सरस्वती जी की वसीहत पूरी करने के लिये किया था कि जैसा वह भूमिका में लिखते हैं। इस लिये आर्यों का धर्म है कि इस वसीहत की पूर्ति कर उत्साह वर्द्धन करें और ला० चिरंजीव लाल गुप्त मैनेजर आर्यग्रन्थ रत्नाकर बरेली

का उत्साह बढ़ावें और पुस्तक को अवश्य संग्रह कर स्वाध्याय करते हुये, लेखक, अनुवादक तथा प्रकाशक एवं उस पवित्र वसीयत को चिरंजीव रखने के लिये पुस्तक का प्रचार बढ़ाते रहें। किमधिकम् ॥

न्त पर जा

श्री वस न प्रकार हैं मूल
सम्वत् स्वसिद्धान्त क

अनुग्राह्य
गोकुलचन्द्र दीक्षित
भरतपुर राज्य

* ओ३म् *

भूमिका—

वेदान्त दर्शन कि जिन्हें ब्रह्म सूत्र भी कहते हैं महर्षि व्यास देवजी के रचे हुये हैं। इन जीव, ब्रह्म और प्रकृति की उचित व्यवस्था के निर्णायक सूत्रों का भारत वर्ष में बड़ा आदर है। प्रत्येक भारतीय धर्म के आचार्य-क्या श्री शंकरस्वामी, श्री रामानुज स्वामी, श्री वल्लभा चार्य, श्री मध्व स्वामी अर्थात् बड़े २ वेदान्त के विद्वानों ने इन सूत्रों के अर्थों को खोलने में भगीरथ परिश्रम किया है। एक २ सूत्र की व्याख्या करते हुये परस्पर एक आचार्य ने दूसरे आचार्य का खण्डन-मण्डन कियाहै सो किया ही है कहीं २ स्वमत स्थापना के अभिप्राय से ऋषियों के बनाये शेष अन्य, न्याय वैशेसिक, सांख्य शास्त्रादि का भी प्रवल खण्डन करने में संकोच नहीं किया है। इन प्रसिद्ध भाष्य कारों में श्री शंकर और श्री रामानुज स्वामी हैं। एक दूसरे का, केवल अद्वैत और विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त समर्थक होने से खण्डन ही नहीं करते किन्तु इनके अनुयायी अद्वैतवादी पंचदशीकार श्री विद्यारण्य स्वामी आत्म पुराण कर्त्ता श्री चिद्घनानन्द स्वामी, वृत्ति प्रभाकर, विचार सागर कर्त्ता श्री निश्चल दास जी आदि नव्य वेदान्तियों ने अद्वैतवाद का गूंज करके सत्य द्वैतवाद के मार्ग को इतना भूल भुलैयां बना दिया है कि जिज्ञासु को ब्रह्म ज्ञान होने में जहां सुविधा होनी चाहिये थी वड़ी दुविधा हो गई है। इन नवीन वेदान्तियों ने जो उपाधियां मानी हैं वह उपाधियों के स्थान में अपाधियां बन गई हैं। विशिष्टा द्वैतवादी श्री रामानुजाचार्य का "श्री भाष्य" बोधायन के भाष्य के अनुकूल माना जाता है परन्तु प्रश्न यह है कि

क्या "वौधायन" विशिष्टाद्वैत वादी थे ? वौधायन वृत्ति अभी तक भारतियों को नहीं मिली श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी भी वेदान्त सूत्र की वृत्ति वौधायन भाष्य के पठन की व्यवस्था देते हैं परन्तु अब वह वृत्ति अनुपलब्ध है तो क्या वैदिक द्वैतवाद को विशिष्टाद्वैत के वेश भूषा से अलङ्कृत करके उसे वैदिकों की अन्यथा ख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध किया जावे इत्यादि अनेक कारण हैं कि जिन के कारण यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि जो महर्षि व्यासदेव का भाव है वह सत्यार्थ वचनों से प्रगट किया जाता है। और उसकी संगति मिलाई जाती इन्हीं सब भावों को केन्द्री भूत करने के लिये यतिवर श्री स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती ने इस वेदान्त दर्शन को सप्रमाण प्रश्नोत्तर रूप लिख कर प्रत्येक विषय को जो सूत्रों में वर्णित है उर्दू में अनुवाद किया था यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती का वैदिक सिद्धान्त के प्रचार के लिये क्या ध्येय रहा है। उक्त श्री स्वामी जी ने छहों दर्शन, उपनिषद् और गीता पर अनुवाद लिखे हैं इन की लेखन शैली इतनी परिमार्जित और निर्भ्रान्त रीति पर विषय प्रतिपादिका है कि जिज्ञासु को स्वयं किसी प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं रहती वह स्वयं पढ़ कर अपना समाधान कर सकता है। इन दर्शनों के भाष्यों ने उस समय जन्म ले लिया था कि जब आर्य समाज संसार में दर्शनों के भाष्य की चर्चा भी न थी और यदि मैं भूलता नहीं तो कहना होगा कि इस वेदान्त दर्शन (प्रथम खण्ड) ने तो उस समय जन्म ले लिया था कि जब कदाचित् ही किसी आर्य विद्वान ने वैदिक सिद्धान्त पर किसी भी प्रकार की वृत्ति रचना का संकल्प वेदान्त दर्शन के भावों को खोलने के लिये किया हो !

इस के पीछे अनेक भाष्य रचे हुये मिलते हैं परन्तु श्री स्वा० दर्शनानन्द जी सरस्वती का प्रथम उद्योग है जो सफलता पूर्वक आर्य जनता के सन्मुख विद्यमान है श्री स्वामी जी के समस्त ग्रन्थ उर्दू ही में मिलते हैं परन्तु लेखन शैली बड़े २ प्रगल्भ विद्वानों के समान दार्शनिक भाषा में पाई जाती है। मुझे इस बात के प्रगट करने में बड़ा हर्ष होता है कि श्री स्वामी जी के जो भाव पहिले उर्दू भाषा भाषी ही जान सकते थे वह उनके प्रेमी जनों द्वारा अब हिन्दी भाषा वित्ताओं के सन्मुख भी आ रहे हैं। मैंने श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती के बनाये १६३ से ऊपर उर्दू के ट्रेक्ट और दर्शन, उपनिषद् ग्रन्थ देखे हैं उन से बड़ा उपकार हुआ है और जो मनुष्य आर्य सिद्धान्त का अध्ययन करना चाहते हों वह उन्हें अवश्य अवलोकन करें और विचारें। मुझे यहां लिखने में तनिक संकोच नहीं कि वैदिक सिद्धान्त के प्रेमी श्री पं० जो गोकुल चन्द्र दीक्षित ने उक्त स्वामी जी की रचना के अधिकांश में आनातिरी है उन्हों ने उनके ट्रेक्टों का भाषानुवाद करके दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह नामक स्वतंत्र ग्रन्थ इसी नाम से छपवाया गीता का अनुवाद कर डाला और अब यह वेदान्त दर्शन का हिन्दी अनुवाद भी उन्हीं का प्रयत्न है निस्सन्देह यह बड़ी सराहना की बात है कि वह इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त के प्रचार का श्रेय निस्वार्थ भाव से ले रहे हैं इस दर्शन के अनुवाद की बड़ी आवश्यकता थी। इस दर्शन में भी स्वामी दर्शनानन्द जी ने बड़ी योग्यता से सीधे और सरल भाषा में उन भावों को प्रस्फुरित किया है जो जिज्ञासु अन्य अनेक भाष्यों में क्लिष्ट भाषा और पेचीदगियों के तारतमय कारण निज अभिलाषित भावों के अवगाहन करने के स्थान में बहिक जाते हैं और उन्हें केवल

शब्दाडम्बर के और कुछ प्रतीत ही नहीं होता। श्रद्धादेवी के गोद से निकल कर अश्रद्धावान बन जाते हैं। इस भाष्य में जो विशेषता है वह पाठक स्वयं विचार कर ही लेगें परन्तु मैं दो एक बात लिखूंगा जिस से विदित होगा कि वेदान्त दर्शन कितना उपयोगी दर्शन है और उपनिषदों की तो तालिका ही है दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है यदि एक दूसरे का जन्म दाता है तो दूसरा उसका पूर्ण समर्थक है। मैं अधिक न लिख कर वैदिक सिद्धान्त जिज्ञासुओं को परामर्श दुंगा कि वह सिद्धान्त वाद के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहें। इस वेदान्त दर्शन में जिन २ विषयों को समावेषित किया गया है वही मेरी एक दो बातें होंगी जिन्हें मैं पाठकों के सन्मुख आलोचनार्थ रखता हूं। मैं पूर्व लिख चुका हूं कि इस दर्शन के प्रवर्त्तक कृष्ण द्वैपायन भगवान वेद व्यास जी हैं और उन्हों ने वेद का अन्तिम तातपर्य बतलाने की इच्छा से इसका नाम वेदान्त दर्शन रक्खा है। वेदों में उस उपासनीय परब्रह्म की आराधना कहीं शुद्ध स्वरूप से, कहीं कर्म से कहीं उपलक्षण से वर्णन की गई है इसी लिये समस्त वेद परम्परा से परमेश्वर की ओर ले जाने वाला है उसके दर्शन से स्थिरता, शान्ति और परमात्मानन्द की प्राप्ति बतलाना इस वेदान्त दर्शन का आशय है। इसी लिये इस दर्शन का जिज्ञास्य विषय " ब्रह्म जिज्ञासा " है। वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म का लक्षण श्रुति सम्मति पूर्वक यह किया गया है कि जिससे भूत उत्पन्न हो कर जिससे जीते हैं और मर कर जिसमें लीन होते हैं वह जिज्ञासा के योग्य " ब्रह्म ' है। उस ब्रह्म के होने में जो प्रमाण दिये गये हैं उन में बतलाया है कि उसके ज्ञान में इन्द्रियों की

पहुंच नहीं, वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं, परन्तु अनुमान जिसकी झलक देता है उससे परे शास्त्र द्वारा उसका दिव्य स्वरूप जाता है वह शास्त्र "वेद" है जिसे शब्द कहते हैं अर्थात् वेदों से ब्रह्म जाना जाता है यह प्रमाण ब्रह्म में तात्पर्य से है क्योंकि "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" का तात्पर्य यही है कि समस्त वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं अतः शास्त्र का तात्पर्य वेद प्रतिपादन में है उसे इसी लिये अनेक प्रकार से वर्णन किया है परन्तु ब्रह्म नित्य शुद्धबुद्ध मुक्त स्वाभाव सच्चिदानन्द है शेष सब नामादि उसकी शक्ति के परिचायक हैं। जहां स्वरूपमात्र से कथन है वहां ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप है (सर्वं तत्वैर्विशुद्धम्। श्वे० २। १५) इसमें प्रमाण है। वह जगत का जीवन है यह शबल ब्रह्म का लक्षण है अर्थात् वह सृष्टि में ओत प्रोत है उससे भिन्न बाहर भीतर कोई स्थान रिक्त नहीं उपनिषदों में जहां "प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति॥ येन सूर्य स्तपति तेज सिद्धः॥ इत्यादि प्रमाण आते हैं वह उसके जगज्जीवन के बोधक हैं। उपलक्षण से वर्णित ब्रह्म वेदान्त दर्शन के अन्तर्यामी-अधिकरण में विस्तृत रूप से आया है जिसका सार यही है कि वह सब में रहता हुआ भी सब से प्रथक् है, जिसमें वह रहता है उसे जिसमें वह निवास करता है नहीं जान सकता जैसे पांचों तत्वों में ब्रह्म व्यापक है परन्तु वह उसे नहीं जानते उसकी लम्बाई, चौड़ाई, रंग, स्नेह, छाया, आदि नहीं, वह इन्द्रियों के देवताओं से रहित और उनके व्यापार से विरहित है इसे "अव्यक्त स्वरूप उसका कहा है (तदव्यक्त माह हि बृ० ३। २। २३) उसे हम शुद्ध, सत्य, ज्योतिः ज्ञान और आनन्द शब्द के पर्याय वाचकों आदि से कहते हैं जैसे कहा है कि "शुद्धम पाप विद्धम्. सत्यं ज्ञान मनन्तं

ब्रह्म विज्ञान मानन्द ब्रह्म, तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः। वही ब्रह्म फल का देने वाला है क्यों कि कहा है कि "फल मत उपपत्तेः अर्थात् फल ईश्वर से मिलता है। उस फल दाता ईश्वर को सम्पूर्ण शक्तियों सहित माना है जैसे "यः सर्वज्ञः सर्व वित्" सत्य संकल्प, सर्वाधार के आधीन माया (प्रकृति) और जीव हैं क्योंकि उसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में "प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः = प्रकृति और पुरुष का स्वामी कहा गया है और गुणों पर राज्य बतलाया गया है। वेदान्त दर्शन में "माया" को उपादान कारण कहा है और "जीव" को देह से भिन्न नित्य, जन्म मरण रहित चेतन शक्ति "जीव" कहा है। उसे अणु माना है क्योंकि शरीर में जन्म के समय आना और मृत्यु के समय फिर निकल जानेसे "उत्क्रान्ति" संज्ञा वाला है। यह "जीव कर्त्ता" है इस लिये ब्रह्म ने जीव को आज्ञावाची शब्दों में "यजेत, जुहोति, दद्यात्, न सुरां पिवेत आदि विधि वाक्यों से उपदेश किया है। यह चींटी से लेकर हाथी में एक समान "स्वरूप वाला" है यह जो कुछ कर्त्ता है वह उसके कर्मों के अनुसार ऊंच नीच योनि जो ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा से हैं उसमें आता जाता है इसी लिये उसे कहीं कर्म योनि और कहीं भोग योनि मिलती हैं पशु कर्मयोनि और स्थावर आदि जड़ जंगम भोग योनियां हैं जिनके कर्म शुभाशुभ मिश्रित हैं वह उभययोनि मनुष्य होता है। पुण्यात्मा देवयान और पितृयान से मरने पर आते जाते हैं ब्रह्म योग प्राप्त होने पर सत्य लोक को प्राप्त होते हैं। मुक्त जीव सत्य संकल्प और सत्यकाम हो जाता है और यही उसका विशिष्ट ऐश्वर्य है परन्तु वह जगत का रचने वाला नहीं होता क्योंकि वहां भोग मात्र की ही समता होती है अपने स्वरूप को दोनों ही (जीव ब्रह्म) नहीं भूल जाते किन्तु

एक दूसरे का आनन्द लेता है एक = मुक्त जीव दूसरे = मुक्त जाव से भिन्न परमात्मा का उसके गुण कर्मानुकूल आनन्द का आस्वादन करता है और आनन्दी होता जाता है। यही परमात्मानन्द है! परमपद है !!

आनन्द भिक्षु सरस्वती

ता० २०-१-२८ प्रेम महा विद्यालय वृन्दावन (मथुरा)

❀ ओ३म् ❀

॥ अथ वेदान्तदर्शनम् ॥

(वेदान्तरहस्य व्याख्यासहितम्)

—:❀:—

प्रणम्य परमात्मानं गिरानन्दञ्च सद्गुरुम् ।
बोधाय ब्रह्मसूत्राणां क्रियते आर्यभाषया ॥

ब्रह्म ज्ञान के निरूपण करने के लिये पहिले उस के जानने की इच्छा का विस्तार करते हैं :—

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥ १ ॥

पदार्थ—'अथ' अर्थात् मङ्गल और अधिकार के पश्चात् । 'अतः' इस कारण । 'ब्रह्म' सब से बड़े सर्व-व्यापक परमात्मा के । 'जिज्ञासा' जानने की इच्छा है ।

अन्वयार्थ—धर्मादि ज्ञान के अनन्तर ब्रह्म के जानने की इच्छा करते हैं । जब ऐसा सूत्र महर्षि व्यास ने कहा उस समय अनेक संशय उत्पन्न हो गये । अतः उसे प्रश्नोत्तर रूप से नीचे लिखा जाता है :—

प्रश्न—यह कथन ठीक नहीं । क्योंकि इच्छा उस वस्तु की होती है जो लाभ दायक और अप्राप्त हो, और उपयोगी

और उपलब्ध (प्राप्त) बिना जाने हो नहीं सकता इस कारण जिस वस्तु की इच्छा होगी उस का ज्ञान होना अवश्य है। और जिस से घृणा होगी उस का भी ज्ञान होना अवश्यंभावी है। यदि यह मान लिया जावे कि हम ने 'ब्रह्म' को जाना हुआ है तो भी इच्छा नहीं हो सकती क्योंकि इच्छा अनुपलब्ध (अप्राप्त) की होती है। जब ब्रह्म ज्ञान प्राप्त है तो उस की इच्छा किस प्रकार की जा सकती है। अतः ब्रह्म को न जान कर तो उपयोगी का ज्ञान न होने से इच्छा नहीं हो सकती और ब्रह्म को जानने से ब्रह्म ज्ञान के न मिलने से इच्छा नहीं हो सकती। इस कारण दोनों दशाओं में आकांक्षा न होने से यह सूत्र यथार्थ नहीं है।

उत्तर—यतः पहिले ब्रह्म को जान चुके हैं। जिस से सुख भी मिल चुका है। इस कारण सूत्रकार का ब्रह्म को जानने की इच्छा करना ठीक है। क्योंकि जिस वस्तु को पहिले प्राप्त करके सुख प्राप्त कर लिया हो और वह वस्तु न रहे तो उस की इच्छा होती है और यतः बन्धन नैमित्तिक हैं। जिन का किसी काल में होना आवश्यक है जिस से मानना पड़ता है कि बन्धन से पूर्व मुक्त था और मुक्त ब्रह्म के जानने से होता है। इस कारण इस सूत्र से निश्चित होता है कि वर्त्तमान बन्धन से पूर्व ब्रह्म को जाना हुआ था और *अन्तःकरण के आवरण से वह ज्ञान दूर (लुप्त) गया था कि जिस को प्राप्त करने की फिर इच्छा होती है।

---

* अन्तः-करण-जीवात्मा के वह साधन कि जो सदैव नहीं रहते। जैसे दृश्य का साधन नेत्र है परन्तु चक्षुरेन्द्रिय नित्य नहीं। उस दशा में दृष्टा के ज्ञानपट पर आवरण होना सम्भव है।

प्रश्न—क्या ब्रह्म स्वयं अविद्या से अपने आप को भूल गया है? इस लिये उस को निज स्वरूप को जानने की इच्छा हुई है? अथवा ज्ञाता और है और ब्रह्म जानने के योग्य और है। यदि ब्रह्म को ब्रह्म के जानने की इच्छा हुई तो आत्माश्रयी दोष है। यदि जानने की इच्छा वाला ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य चेतन है तो वेदान्त का सिद्धान्त खण्डन होता है क्योंकि वेदान्ती एक ही चेतन मानते हैं।

उत्तर. वेदान्त शास्त्र में दो चेतन माने जाते हैं। एक जीव और दूसरा ब्रह्म। आगे अनेक सूत्र मिलेंगे कि जो इस भेद को प्रकट करेंगे। जीव भी दो प्रकार का हो जाता है अवस्था भेद से एक बद्ध और दूसरा मुक्त। बद्ध को जीव और मुक्त को ईश्वर कहते हैं। इस लिये तीन चेतन हुये एक शुद्ध ब्रह्म दूसरा जीव तीसरा ईश्वर। एक चेतन मान कर तो यह सूत्र नहीं बन सकता। न तो सर्वज्ञ ब्रह्म में भूल आ सकती है, नहीं इस को जानने की इच्छा हो सकती है। जो मनुष्य यह कहते हैं कि अविद्या के आवरण से ब्रह्म अपने स्वरूप को भूल गया वह बहुत भूल करते हैं क्योंकि आवरण दो द्रव्यों के बीच तीसरे द्रव्य का आया करता है जैसे कि ब्रह्म और जीव के मध्य जीव की अल्पज्ञता से आवरण आना सम्भव है परन्तु गुण और गुणी के बीच आवरण आने से दृष्टान्त का अभाव है। मुक्ति अवस्था में जीव ब्रह्म को जानता और उस से आनन्द लेता है और बद्धावस्था ब्रह्म के ज्ञान से रहित होता है। केवल संस्कार मात्र होता है इस कारण इस के जानने की इच्छा होती है। जब

वेदान्ती छः (पदार्थ) तक अनादि मानते हैं तो अद्वैत और आत्मा श्रयी दोष का झगड़ा ही नहीं रहता।

प्रश्न—यद्यपि वेदान्ती छः (पदार्थ) अनादि मानते हैं परन्तु इन में से पांच अनादि सान्त और एक अनादि अनन्त मानते हैं। इस लिये वेदान्त का सिद्धान्त अद्वैत ही है।

उत्तर—जिस का आदि नहीं उस का अन्त भी नहीं हो सकता क्योंकि पदार्थ अनित्य होंगे या नित्य, इन के अतिरिक्त असम्भव होंगे। नित्य वह हैं जिस का आदि और अन्त न हो और अनित्य वह हैं जिस का आदि तथा अन्त हो, नित्य और अनित्य में तो अनादिसान्त पदार्थ आ नहीं सकते। इस कारण इन को असम्भव ही मानना चाहिये।

प्रश्न—क्या छः (पदार्थ) अनादि और पांच सान्त का सिद्धान्त मिथ्या है?

उत्तर—यह सिद्धान्त मिथ्या तो नहीं किन्तु जिस प्रकार आप समझ रहे हैं वह भ्रमात्मक है क्योंकि आदि तथा अनन्त दो प्रकार से होते हैं एक देश के सम्बन्ध से दूसरा काल के विचार से। जो वस्तु काल के विचार से अनादि होगी वह काल के विचार से अनन्त भी होगी अतः काल के विचार से तो छः अनादि अनन्त ही हैं परन्तु देश के सम्बन्ध से ब्रह्म अनादि अनन्त है और शेष सान्त हैं अर्थात् ब्रह्म अपरमित (अनन्त) है और शेष परिमित (सान्त) हैं।

प्रश्न—यदि वेदान्त का सिद्धान्त अद्वैत वाद न होता तो श्रुति ऐसा क्यों बतलाती कि एक के जानने से सब जाने जाते हैं*।

---

*तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। -"अनुवादक"

उत्तर—यतः ब्रह्म सब से सूक्ष्म होने के कारण सब के अन्त में जाना जाता है इस लिये ब्रह्म विद्या का नाम वेदान्त रक्खा है और यह स्पष्ट बात है कि अनन्त के ज्ञान से पूर्व इस के पहिले वाले सब जाने जाते हैं अतः उस श्रुति का यह अर्थ है कि एक ब्रह्म जानने के लिये उस से पूर्व वालों का ज्ञान हो ही जावेगा इस कारण ब्रह्म के जानने से सब का जानना बतलाया और इस में कोई दोष भी नहीं हैं।

प्रश्न—जब कि स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि इस सृष्टि से पूर्व आत्मा था वह एक अद्वैत है फिर आप किस प्रकार भेद मानते हैं।

उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ व्यापक है जो व्याप्य के विना हो ही नहीं सकता इस लिये आत्मा कहने से व्याप्य व्यापक अथवा प्रकृति या ब्रह्म दोनों का ग्रहण होता है। दूसरे आत्म शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण हो जाता है इस लिये आत्मा के होने से तीनों का होना अर्थ से सिद्ध है। जैसे कोई कहे कि "एक ही राजा था" परन्तु राजा के कहने से ही उस की प्रजा और राज्य का ग्रहण हो जाता है। चाहे राजा के साथ प्रजा का शब्द न भी कहा जावे केवल यही कहा जावे कि एक अद्वितीय राजा ही था इस का स्पष्ट अर्थ यह होता है कि दूसरा राजा नहीं था। राजा के अद्वितीय कहने से दूसरे राजा का अनस्तित्व होता है। प्रजा और राज सामग्री का अनस्तित्व नहीं होता। क्योंकि प्रजा और राज सामग्री के विना वह राजा कहला ही नहीं सकता।

प्रश्न—अद्वैत का अर्थ ही सजाति, विजाति और स्वगत भेद से शून्य होना बतलाता है। श्री स्वामी दयानन्दर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के पहिले समुल्लास में भी ऐसा ही लिखा है। इस लिये ब्रह्म का नाम अद्वैत होने से उस से अलग वस्तु जाति जीव और प्रकृति का अभाव ही सिद्ध होता है।

उत्तर—विजाती शब्द दो अर्थों में है। एक विरुद्ध जाति और दूसरी भिन्न जाति। यहां विजाती शब्द विरोध जाति के शब्द में आया है। अर्थात् ब्रह्म की विरोधी कोई वस्तु नहीं जो उस के कार्यों को रोक सके। दूसरे जाति कहते हैं जो एक हो कर बहुतों में रहे, यतः ब्रह्म एक है इस लिये ब्रह्म में जाति नहीं। जिस में जाति नहीं उस में भिन्न जाति कैसे हो सकती है, इस लिये यह कहना कि ब्रह्म सजाती, विजाती और स्वगत भेद से रहित ही ठीक है।

प्रश्न—क्या कोई भी श्रुति अद्वैत की प्रतिपादिका नहीं हैं ?

उत्तर—यतः ब्रह्म जगत का स्वामी और जीवों का राजा होने से एक है इस लिये इस अद्वैत को कथन करने वाली श्रुतियां भी ठीक हैं।

प्रश्न—ब्रह्म का लक्षण क्या है क्योंकि बिना लक्षण और प्रमाण के कोई वस्तु नहीं जानी जा सकती*।

---

* लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः। (न्यायदर्शनम्)

जन्माद्यस्य यतः ॥ २॥

पदार्थ—'जन्मादि' उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय। 'अस्य' इस जगत के। 'यतः' जिस से होते हैं वह ब्रह्म है।

अन्वयार्थ—जो इस संसार का उत्पत्ति कर्त्ता, पालन करने वाला तथा नाश करने वाला परमात्मा है। यह तटस्थ लक्षण परमात्मा का है।

प्रश्न—ब्रह्म जगत का उपादान कारण है या निमित्त-कारण अथवा अभिन्न निमित्तोपादान कारण है?

उत्तर—ब्रह्म जगत का निमित्त कारण है। क्योंकि उपादान कारण समझा जावे तो वह परतन्त्र और परिणामी होगा। क्योंकि रूपान्तर किसी वस्तु का स्वतन्त्रता से नहीं होगा। इस में दृष्टान्त का अभाव है परन्तु ब्रह्म एक रस और स्वतन्त्र है। इस लिये ब्रह्म को निमित्त कारण ही मानना ठीक है।

प्रश्न—यतः सूत्र में जो शब्द हैं उन से ब्रह्म का उपादान कारण होना पाया जाता है और दूसरे आचार्य उसे अभिन्न निमित्तोपादान कारण और निमित्त कारण दोनों मानते हैं। इस कारण ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण ही मानना ठीक है।

उत्तर—उपादान कारण सदैव परतन्त्र और परिणामी होते हैं। और निमित्त कारण सदैव स्वतन्त्र और अपरिणामी

होते हैं। इस लिये एक ही वस्तु में दो प्रकार के विरोधी गुण नहीं रह सकते और ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जहां उपादान कारण और निमित्त कारण एक हों और जगत के देखने से भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म इस का उपादान कारण नहीं, क्योंकि उपादान कारण के गुण कार्य में आया करते हैं परन्तु ब्रह्म का गुण जगत में नहीं पाया जाता। अतः ब्रह्म जगत का उपादान कारण नहीं। निमित्त कारण ही मानना ठीक है।

प्रश्न—अभिन्न निमित्तोपादान कारण और निमित्त कारण के एक मानने में दृष्टान्त का अभाव नहीं। क्योंकि मकड़ी के दृष्टान्त से आचार्य वर्य अभिन्न निमित्तोपादान सिद्ध कर चुके हैं मकड़ी बाहर से कोई वस्तु नहीं लेती किन्तु अपने भीतर से जाला उत्पन्न करती है और भीतर ही समेट लेती है!

उत्तर—जो अज्ञानी मनुष्य हैं उन की समझ में यह दृष्टान्त अभिन्न निमित्तोपादान के लिये हो सकता है परन्तु ज्ञानी की दृष्टि में तो यह भी निमित्तोपादान का उदाहरण है इस लिये कि मकड़ी का आत्मा और शरीर दोनों भिन्न वस्तुयें हैं। शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्य है जड़ और चेतन को एक मानना अज्ञानियों का काम है यदि मकड़ी का शरीर और आत्मा एक होते तो कभी निर्जीव मकड़ी दिखलाई ही न देती मृतक मकड़ी यह बतलाती है कि इस से चेतन आत्मा भिन्न हो गया अतः मकड़ी का शरीर उपादान कारण जाले का है और आत्मा निमित्त कारण है। इस लिये इस दृष्टान्त

से निमित्त और उपादान कारण दोनों भिन्न २ सिद्ध हैं जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण वादियों के मत का खण्डन कर देते हैं एक रस ब्रह्म जगत का उपादान कारण हो ही नहीं सकता क्योंकि फिर वह परिणामी सिद्ध होता है चेतन ब्रह्म जड़ वस्तु का उपादान कारण हो ही नहीं सकता इस लिये इस सूत्र में ब्रह्म को जगत का निमित्त कारण ही बतलाना ठीक है।

प्रश्न—हम उपादान कारण इस प्रकार नहीं मानते जिस से एक रस पर ब्रह्म में परिणाम आजावे किन्तु हम तो विवर्त्तोपादान मानते हैं जैसे भ्रम से रस्सी सांप प्रतीत होती है कोई रस्सी बदल कर सांप नहीं हो गई। किन्तु भ्रम से सांप प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्म बदल कर जगत रूप नहीं हो गया किन्तु भ्रम वश जगत रूप प्रतीत होता है।

उत्तर—इस प्रकार मानना भी ठीक नहीं। क्योंकि विवर्त्त समान आकृति और समान धर्म में होता है अर्थात् जिस के स्वरूप और गुण में समानता हो और पहिले उस वस्तु का ज्ञान भी हो तब भ्रम होना सम्भव है परन्तु भिन्न स्वरूप और गुण में भ्रम होना नहीं बनता। रस्सी में सर्प का भय तो हो सकता है परन्तु हाथी में घोड़े का भ्रम नहीं हो सकता। सीप में चांदी का भ्रम होना सम्भव है परन्तु लोहे में स्वर्ण का भ्रम नहीं होता अतः जब कि ब्रह्म और जगत में न तो आकृति ही की समानता है न धर्म की ही समता है तो ब्रह्म में जगत का विवर्त्त किस प्रकार हो सकता है। दूसरे विवर्त्त किसी को किसी का किसी में होता

है और इस में कोई कारण भी होता है जैसे मनुष्य को सर्प का भ्रम रस्सी में थोड़े प्रकाश और थोड़े अन्धकार वश हुआ इस से स्पष्ट है कि विना चार वस्तुओं के उपस्थित हुये विना भ्रम अथवा विवर्त्त की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। परन्तु विवर्त्त वादियों के पास केवल ब्रह्म के कोई वस्तु ही नहीं फिर यह विवर्त्त वाद* कैसे ठीक हो सकता है। जगत साकार, ब्रह्म निराकार, जगत जड़ ब्रह्म चेतन्य। सारांश यह कि भ्रम की कोई सामग्री ही नहीं और न सर्वज्ञ ब्रह्म को भ्रम हो सकता है क्योंकि न तो मध्याह्न (दुपहर) के प्रकाश में रस्सी का सर्प प्रतीत होता है क्योंकि उस समय रस्सी का प्रत्यक्ष स्पष्ट है और नहीं नितान्त अन्धेरे में भ्रम उत्पन्न होता है क्योंकि उस समय कुछ दिखलाई ही नहीं देता। इस कारण भ्रम उस समय होगा जब कुछ अन्धकार और कुछ प्रकाश हो इस से स्पष्ट प्रकट है कि न तो सर्वज्ञ ब्रह्म को भ्रम हो सकता है और न प्रकृति को। जब कभी भ्रम होगा तो अल्पज्ञ जीव को होगा। अविद्या वादियों के मत में ब्रह्म में अविद्या उपाधि हो तब जीव बने और जब तक ब्रह्म से जीव न बने तब तक अविद्या हो नहीं सकती इस लिये अन्योन्याश्रय दोष युक्त होने से यह सिद्धान्त असत्य है।

---

* विवर्त्तवाद का अर्थ है अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भान होना। विवर्त्तवादी सम्प्रदाय श्रीशङ्कर स्वामी का है। यह रज्जु में सांप का भय मानते हैं, यद्यपि रज्जु सांप नहीं और सांप रज्जु नहीं होते।

—"अनुवादक"

प्रश्न—क्या विवर्त्तवाद वेदान्त का सिद्धान्त कभी असत्य हो सकता है ?

उत्तर—वेदान्त का तो यह सिद्धान्त ही नहीं वेदान्त का सिद्धान्त तो जीव ब्रह्म में भेद सब प्रकार से सिद्ध है।

प्रश्न—आप के पास क्या प्रमाण है कि जीव ब्रह्म का भेद वेदान्त मानता है। वेदान्त के ग्रन्थों में तो यह लिखा है कि "मैं इस बात को कि जिस को करोड़ों ग्रन्थों में लिखा है" आधे श्लोक में कहूंगा वह क्या है कि "ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है" उस से भिन्न कोई वस्तु नहीं।

उत्तर—वेदान्ती जन जो ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हैं वही भेद भाव का प्रमाण है। जब वेदान्तियों से ब्रह्म का स्वरूप पूछा तो बतलाया कि "ब्रह्म सत्य है" परन्तु यदि ब्रह्म सत् होता तो और सब मिथ्या होते तब लक्षण भी समाप्त हो जाता है। यतः जीव और प्रकृति भी सत् थे इस लिये लक्षण अति व्याप्ति हो गया अर्थात् यह गुण जीव और प्रकृति में भी पाये जाते हैं। इस लिये ब्रह्म का लक्षण "सतचित्" किया जिस से अचेतन प्रकृति तो भिन्न हो गई परन्तु जीव में फिर लक्षण अति व्याप्ति हो गया क्योंकि जीव भी "सत चित्" था अतः ब्रह्म का लक्षण "सतचित् आनन्द" किय इस लिये ब्रह्म का लक्षण ही तीन सत् बतलाता है और पूर्वोक्त श्लोक वाले का अर्थ यह है कि मुक्ति के लिये तो ब्रह्म सत्य साधन और जो जगत को आनन्द का साधन मानते हैं

यह मिथ्या है और ब्रह्म को सर्व व्यापक मानने से वह कभी जीव से परे अर्थात् दूर नहीं किन्तु उस के भी भीतर व्यापक है इस श्लोक में तीन मतों का खण्डन है एक तो जो जगत को आनन्द का साधन मानने वाले हैं जो प्रकृति के उपासक नास्तिक हैं। दूसरे जो ब्रह्म को एक देशी मान कर उस के पास जाने के लिये "देवदूतों" की आवश्यकता बतलाते हैं तीसरे जो बौद्ध इत्यादि जीव ही का ब्रह्म हो जाना बतलाते हैं।

प्रश्न—यदि ब्रह्म और जगत में समान आकृति न होने से जगत विवर्त्त नहीं तो हमारा ऐसा मन्तव्य है कि जगत माया का परे नाम और अधिष्ठान चेतन का विवर्त्त है अर्थात् साकार जगत तो माया का परे नाम है और निराकार जीव आत्मा ब्रह्म का विवर्त है। जीव और ब्रह्म में समान आकृति और समान धर्म है इसी लिये इस के विवर्त्त होने में कोई आपत्ति नहीं।

उत्तर—यदि आप माया को नित्य मान कर जगत को उस का परिणाम मानते हैं तो आप के सिद्धान्त की हानि होगी। क्योंकि अन्य वस्तु नित्य हो गई। यदि माया को नित्य मान कर उस का परिणाम बतलाते हो तो माया का उपादान कारण क्या है? यदि कहोगे ब्रह्म! तो भी ब्रह्म में वही दोष आवेगा जो जगत का उपादान कारण मानने से आते हैं और यदि माया का और कारण मानोगे तो उस के लिये भी यह प्रश्न होगा कि वह नित्य है या अनित्य। नित्य मानते हैं तो आप के सिद्धान्त की हानि होगी और अनित्य

मानते हैं तो अनवस्था दोष आ जावेगा अतः इन दशाओं में आप का मत स्खलित होगा। जीव को ब्रह्म का विवर्त्त मानना भी ठीक नहीं क्योंकि जिस सर्प का रस्सी में भ्रम होता है वह पहिले सिद्ध होता है ऐसे ही यदि पहिले जीव को सिद्ध मानोगे तो विवर्त्त जीव को मानना प्रत्यक्ष अज्ञानता होगी यदि पूर्व सिद्ध न मानोगे तो "स्मृति-ज्ञान" न होने से हो नहीं सकता। तीसरे जीव का ब्रह्म में भ्रम किस को हुआ यदि कहो ब्रह्म को तो यह हो नहीं सकता क्योंकि वह सर्वज्ञ है यदि कहो कि जीव को तो उस का अस्तित्व ही नहीं वह तो भ्रम से ज्ञात होता है जिस को ज्ञात होता है वह जीव से भिन्न है इस लिये यह सिद्धान्त असत्य है। केवल अपठित मनुष्यों को चक्कर में डालने के लिये गढ़ा गया है।

प्रश्न—माया को अनिर्वचनीय मानते हैं, इस लिये हमारी माया ऐसी है कि न तो हम इसे असत् कह सकते हैं और न सत्। अतः इस दशा में कोई दोष नहीं आता।

उत्तर—माया को अनिर्वचनीय कहना ठीक नहीं। क्योंकि माया को किस प्रमाण से मानते हो? अथवा अपना प्रमाण ही मान लिया है। यदि कहो कि प्रमाण से जान लिया है तो वह परे है और प्रमाता प्रमेय को लक्षण और प्रमाण से जानता है इस लिये वह अनिर्वचनीय नहीं रहे, यदि इस के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं तो इस का होना ही क्यों मानते हैं?

प्रश्न—हम माया को सत् और असत् से विलक्षण इस लिये मानते हैं कि सत् में तो परिणाम (परिवर्तन) नहीं

होता एक रस होने से परन्तु माया में परिणाम हैं अतः वह सत् नहीं कहला सकती। और असत् मानने से इस का कारण मानना पड़ता है परन्तु माया का कोई कारण नहीं ? इस कारण असत् भी नहीं इस लिये सत् असत् से विलक्षण हम मानते हैं जिसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

उत्तर—परिणाम किसे कहते हैं और वह किसी वस्तु को अनित्य सिद्ध नहीं कर सकता किन्तु वह कार्यवाही वस्तु अनित्य होती है, इस लिये अपरिणाम होने से भी प्रकृति सत् से भिन्न नहीं हो सकती। विकार प्रकृति में होता तो वह असत् कहलाती परन्तु प्रकृति में विकार नहीं। जिस प्रकार जीवात्मा भिन्न २ शरीरों में जा कर उस २ रूप का हो जाता है परन्तु अन्शों को न्यूनाधिकता न होने से अनित्य नहीं होता क्योंकि उस में विकार नहीं आता। इसी प्रकार परिणाम होने पर भी प्रकृति असत् नहीं हो सकती।

प्रश्न—विकार और परिणाम में क्या भेद है? और विकार कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर—जिस में रूपान्तर हो और अंशों में न्यूनाधिक्यता न हो उसे परिणाम कहते हैं और जिस में परिमाणुओं का रूपान्तर हो उसे विकार कहते हैं। वह छः प्रकार का होता है। उत्पन्न हो कर बढ़ना एक सीमा तक बढ़ कर रुक जाना। दशा में रूपान्तर होना, घटना और नाश हो जाना यह छः विकार हैं।

प्रश्न—जब कि विकारों में दशा का परिणाम है और परिणाम में भी रूपान्तर है इस कारण प्रकृति असत् कहला सकती है।

उत्तर—जब परिमाणु वही रहे और रूपान्तर हो जावे तो इस को परिणाम कहते हैं। और जब परिमाणुओं में परिणाम होने के कारण दशा में परिवर्तन हो तब विकार कहलाता है, इस लिये दशा का परिवर्तन और परिणाम एक नहीं इस से प्रकृति असत् नहीं हो सकती।

प्रश्न—यतः ब्रह्म को जगत का उपादान कारण मानने से वह परतन्त्र और अचेतन होता है और निमित्त चेतन होता है। इस भ्रम को निवारण करने के लिये सूत्रकार (व्यास जी) कहते हैं:—

उत्तर— शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

पदार्थ—'शास्त्र' मनुष्यों को नियम पूर्वक चलाने वाले ऋग्वेदादि शास्त्रों का। 'योनित्वात्' कारण होने से।

अन्वयार्थ—यतः ऋग्वेदादि बड़े शास्त्रों का कारण ब्रह्म है इस लिये ब्रह्म अचेतन और उपादान कारण नहीं किन्तु चेतन और निमित्त कारण है।

प्रश्न—क्या ब्रह्म ने ऋग्वेदादि के भीतर जो ज्ञान है वह उत्पन्न किया है? अथवा उनपुस्तकों को लिखा है?

उत्तर—ब्रह्म ने उस ज्ञान को जो ऋग्वेदादि में है "दिया है" इस लिये इस ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। पुस्तक तो अति समय के पठन पाठन के अनन्तर लिखे गये हैं इसी लिये इन का नाम "श्रुति है।

प्रश्न—यह नियम है कि द्रव्य से द्रव्य उत्पन्न होता है और गुण से गुण ब्रह्म जो द्रव्य है उस से ज्ञान जो गुण है किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। गुण तो आत्मा का गुण है जिस का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है इस कारण ब्रह्म और ज्ञान में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता।

उत्तर—कर्त्ता दो प्रकार का होता है एक संयोग करने से दूसरा वियोग करने से। यद्यपि ब्रह्म का ज्ञान गुण है परन्तु जीवों के लिये उस ने अनन्त ज्ञान में से मुक्ति के योग्य ज्ञान भिन्न करने के कारण ब्रह्म ज्ञान का कर्त्ता कहलाता है क्योंकि अपने अनन्त ज्ञान में से वेदों के ज्ञान का विभाग करता है।

प्रश्न—ज्ञान गुण होने से निराकार है इस लिये निराकार के अवयव न होने से इसका विभाग हो नहीं सकता इस लिये ईश्वर को वेदों का कर्त्ता कहना ठीक नहीं। यदि निराकार का विभाग हो नहीं सकता इस लिये ईश्वर को वेदों का कर्त्ता कहना उचित नहीं। यदि निराकार का विभाग हो सके तो ईश्वर के भी खण्ड हो जावेंगे।

उत्तर—जैसे निराकार आकाश के घट मठ इत्यादि कारणों से विभाग किया जाता है इसी प्रकार ज्ञान गुण का

शब्दार्थसमम्बन्ध से विभाग होता है इस शब्दार्थ सम्बन्ध का कर्त्ता ईश्वर है इस लिये ईश्वर वेदों का कर्त्ता कहलाता है यतः ईश्वर सर्व व्यापक है इस लिये उसके खण्ड नहीं। होते*।

प्रश्न—जब ईश्वर सर्व व्यापक है तो उसका गुण ज्ञान भी सर्वव्यापक होगा। इस लिये ज्ञान के खण्ड नहीं हो सकते जब ज्ञान के टुकड़े न हुये तो विभाग कहां से कहलायेगा। जो वेदों की उत्पत्ति का कारण है जब विभाग विद्यमान है नहीं तो ईश्वर वेदों का कर्त्ता किस प्रकार कहला सकता है।

उत्तर—जिस प्रकार भवन बनवाने से निराकार और सर्व व्यापक आकाश घटाकाश कहलाता है और दूसरे आकाश से भिन्न रूप वाला प्रतीत होता है यद्यपि वह यथार्थ आकाश के खण्ड रूप नहीं परन्तु उपाधि भेद से घटाकाश और मठाकाश में भेद विदित होता है और इस औपाधिक भेद से विभाग कहा जाता है जिस से ईश्वर वेदों का कर्त्ता कहलाता है।

प्रश्न—यतः गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है इस लिये ईश्वर अपने ज्ञान को भिन्न नहीं कर सकता।

---

* घट, पट भिन्न २ पदार्थों में प्रतिव्यक्ति सम्बन्ध से जो उन पदार्थों में देश, काल और अवस्था का भेद होने से वह एक दूसरे से भिन्न हैं और उन सब में उसी देश, कगोल, अवस्था भेद रखते हुये ब्रह्म की समरस व्यापकता से उस में वह खण्ड योग नहीं होता अन्यथा अलग २ होने से स्थूल बुद्धि से ब्रह्म का विभाग दिखलाई देता हुआ भी सूक्ष्म दृष्टि से वह वस्तुतः नहीं है।

-"अनुवादक"

जब ईश्वर का ज्ञान ईश्वर से भिन्न नहीं हो सकता तो वह दूसरों को किस प्रकार दिया जा सकता है अतः वेदों का ज्ञान ईश्वर जीवों को दे नहीं सकता? जिस से यह सूत्र ठीक नहीं!

उत्तर—ईश्वर प्रत्येक जीव में है अतः प्रत्येक जीव ईश्वर के ज्ञान को ले सकता है परन्तु उस में लेने की शक्ति होनी आवश्यक है। वह शक्ति क्या है! मन का बिना संस्कारों के होना! जिस का मन संस्कार रहित होगा उस में ईश्वर के ज्ञान वेदों का प्रकाश होगा* जब कि ईश्वर आदि सृष्टि में मुक्ति से लौटने वाले जीवों को शुद्ध मन जिस में किसी प्रकार का संस्कार नहीं होता रहता है उस से जीव इस के ज्ञान को अनुभव करते हैं और जीवों की अल्पज्ञता के कारण ईश्वर का पूर्ण ज्ञान तो जीवों के भीतर आ नहीं सकता† इस

---

* यहां उन संस्कारों से रहित होने का वर्णन है कि सांसारिक वासनाओं से अन्तःकरण पर अपना प्रभाव रखते हैं। मुक्त जीव के ईश्वर के गुण कर्मानुसार ही शुद्ध भाव होंगे उस में ईश्वरीय शुद्ध ज्ञान को जितना अवकाश है उतना मलिन वासनायुक्त भावों वाले जीव को नहीं हो सकता।

-"अनुवादक"

† जिस प्रकार वर्षा के समय आकाश से जल सम विषम सब स्थानों पर एकसाही पड़ता है परन्तु वह केवल गड्ढों में ही वर्षा के उपरान्त दिखलाई देता है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर सब को सम ज्ञान देता है परन्तु गम्भीर शुभ संस्कारी जीव गड्ढों में भरे जल के समान उस ज्ञान से परिपूर्ण हो जाते हैं शेष विषम स्थानों में पड़े जल की भांति अपने अशुभ संस्कारों से वशीभूत हो कर उस को धारण नहीं कर पाते। कपिल ऋषि को परमात्मा ने इसी भांति सर्गारम्भ में ज्ञान से भर दिया था। शेष अपनी अपनी संस्कार योग्यता से युक्त हुये। -"अनुवादक"

कारण ईश्वर जीवों को बतलाते हैं कि तीन प्रकार की वस्तुयें हैं एक वह जिन में प्राप्त करने का विचार उत्पन्न होती है। दूसरे वह जिन में त्यागने का विचार उत्पन्न होता है। तीसरे वह कि न तो छोड़ना ही आवश्यक है और न प्राप्त करना ही आवश्यक है उस में उदासीन वृत्ति उत्पन्न होती। इस लिये प्राप्त करने और त्यागने योग्य वस्तुओं का जानना तो आवश्यक ही है परन्तु वह पदार्थ कि जिन का जानना न जानना मुक्ति का कारण नहीं और नहीं उस से बन्धन उत्पन्न होता है उस से जीव उदासीन वृत्ति रखता है अर्थात् उन के जानने का यत्न करना मुख्योद्देश को खो देना है। सिवाय वेदों के मनुष्यों को यह अन्तर नहीं विदित हो सकता कि कौन सी वस्तु का जानना आवश्यक है और कौन सी वस्तु के न जानने से कोई हानि नहीं और ज्ञान से कोई लाभ नहीं ?

प्रश्न—ऐसी कौन सी वस्तु है कि जिस के न जानने से जीव के सुख दुख में कोई अन्तर नहीं आता।

उत्तर—जीवों की संख्या के ज्ञान से कोई सुख उत्पन्न नहीं होता और नजानने से दुख नहीं होता इसी प्रकार विकृति की सख्या का ज्ञान न होना व होना भी समान है इसी प्रकार और भी अनेक पदार्थ हैं जिन के ज्ञान से हमारे व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न जानने से कोई हानि ही होती है।

प्रश्न—कोई काम प्रयोजन के बिना नहीं किया जाता। इस लिये प्रत्येक ग्रन्थ बनाने वाला चार अनुबन्ध आवश्यक

रूप से ध्यान में रखता है। एक प्रयोजन अर्थात् बनाने का उद्देश्य दूसरा अधिकारी जिस के लिये वह ग्रन्थ बनाया जाता है। तीसरा विषय अर्थात् उस में क्या निबन्ध होगा चौथा सम्बन्ध अर्थात् इस ग्रन्थ का इस उद्देश्य से क्या सम्बन्ध है यदि ईश्वर ने वेद बनाये हैं ? तो उन के अनुबन्ध क्या हैं ?

उत्तर—वेद बनाने का प्रयोजन तो जीवों को तत्व ज्ञान देना है जिस से वह मुक्ति प्राप्त कर सकें। अधिकारी मोक्ष की इच्छा वाले जीव हैं और विषय सब सत्य विद्यायें हैं क्योंकि वेद में प्रत्येक विद्या का बीज ज्ञान विद्यमान है और सम्बन्ध मुक्ति का परम्परा पर हेतु और प्रयोजक है।

प्रश्न—मुक्ति तो जीवों की होगी। ईश्वर का इस में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—ईश्वर का अपना तो कोई प्रयोजन नहीं किन्तु उस का स्वभाव ही दयालु है जिस से वह जीवों के सुख के लिये सृष्टि और वेद बनाता है।

प्रश्न—ईश्वर के होने में प्रमाण क्या है ? क्योंकि जिज्ञासु के जानने के लिये लक्षण और प्रमाण ही होते हैं ?

उत्तर—ईश्वर के होने में जगत के करने से अनुमान प्रमाण है। और शास्त्र अर्थात् वेद के प्रमाण होने से शब्द प्रमाण है वेद के बिना ईश्वर का यथार्थ ज्ञान होना कठिन है। अनुमान से अस्तित्व का ज्ञान होता है और शब्द और मानसिक प्रत्यक्ष से स्वरूप का ज्ञान होता है।

प्रश्न—वेद का कर्त्ता ईश्वर है इस लिये ईश्वर के होने पर वेद का होना निर्भर है और ईश्वर में वेद प्रमाण है अतः ईश्वर का होना वेदों पर निर्भर है अतः अन्योन्याश्रय दोष है ?

उत्तर—ईश्वर का अस्तित्व अनुमान प्रमाण और मानसिक प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। इस लिये वह केवल वेद पर ही निर्भर नहीं किन्तु ईश्वर के गुणों के ज्ञान के लिये वेद ही प्रमाण हैं जब कि ईश्वर का अस्तित्व दूसरे प्रमाणों से भी सिद्ध है तो अन्योन्याश्रयी दोष नहीं। जिस प्रकार पिता का पिता कहलाना तो पुत्र पर निर्भर है और पुत्र का होना पिता पर परन्तु पिता का अस्तित्व तो पुत्र पर निर्भर नहीं अतः आत्माश्रय दोष नहीं कहलाता।

जो मनुष्य ब्रह्म के सिवाय अन्य दूसरी वस्तु को जगत का निमित्त कारण स्वीकार करते हैं और प्रकृति के स्वभाव को ही जगत का कारण मानते हैं उन के आक्षेप के निवारण के लिये महर्षि व्यास जी इस सूत्र को कहते हैं कि जगत का कारण ब्रह्म ही है समस्त वेदान्त के ज्ञानी इस पर सहमत हैं :—

तत्तु समन्वयात् ॥४॥

पदार्थ—'तत्' इस में। 'तु' (समीक्षक के उत्तर के हेतु कथन करने के लिये प्रयोग)। 'समन्वयात्' समस्त विद्वानों के लेखों की शाद्यता होने से अथवा सब का इस में सहयोग होने से।

अन्वयार्थ—वह सर्वज्ञ परब्रह्म है समस्त वेदान्त-शास्त्र के ज्ञाता लोगों के विचार में जगत की उत्पत्ति स्थिति और नाश का कारण है ।

प्रश्न—किस प्रकार सहमत होना प्रमाणित होता है ।

उत्तर—समस्त वेदान्त की उतपत्ति (दावे) जो उत्पत्ति के सम्बन्ध में हैं सब इसी में घट सकते हैं ।

प्रश्न—*उपनिषदों में लिखा है कि इस सृष्टि से पूर्व सत् अर्थात् प्रकृति ही थी क्योंकि सत् शब्द से प्रकृति का ग्रहण होता है ।

उत्तर—निस्सन्देह सत् शब्द से प्रकृति का ही ग्रहण होता है परन्तु जीव और ब्रह्म के सत् होने से इन का भी ग्रहण होता है अब यदि सत् शब्द से प्रकृति को ही लें तो इन श्रुतियों के साथ विरोध होगा इस लिये सत् के अर्थ ब्रह्म भी लेने चाहियें ।

प्रश्न—ब्रह्म के अस्तित्व का प्रमाण न होने से प्रकृति जो सिद्ध है वही लेना चाहिये क्योंकि ब्रह्म से जगत बनता तो किसी ने देखा नहीं और प्रकृति से सब वस्तुयें बनती दिखलाई देती हैं अतः प्रकृति ही लेना चाहिये ।

उत्तर—प्रकृति से जगत का बनना बिगड़ना और स्थिति रहना असम्भव न होने से ब्रह्म ही होता है क्योंकि

* सदेव सोम्येदमग्र आसीत इत्यादि ।

† असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । इ० -"अनुवादक"

प्रकृति परिमाणुओं की दशा का नाम है अब यह विचार उत्पन्न होता है कि परमाणुओं में "क्रिया" स्वाभाविक है अथवा "जड़" यदि ऐसा कहो कि परमाणुओं में "क्रिया" स्वाभाविक है तो वह परस्पर मिल नहीं सकते और बिना परमाणुओं के मिले कोई वस्तु बन नहीं सकती क्योंकि पर-माणु सजाति होने से एक ही शक्ति और स्वरूप रखते होंगे अतः इनकी "क्रिया" लगातार समान होगी तो वह चाहे किसी ओर 'क्रिया" करें मिलना असम्भव है। दूसरे यदि गुरुत्व (बोझ) का स्वभाव परस्पर संम्पर्क (मिलना) ही मनोनीत हो तो उत्पत्ति तो स्वीकृति भी हो सकती है परन्तु नाश किस से होगा ? और 'क्रिया शील" परमाणुओं के होने से ठहरी हुई वस्तुओं का दृष्टि में आना कठिन होगा इस लिये प्रकृति से जगत नहीं बन सकता। ब्रह्म को जगत का कारण मानना चाहिये। प्रकृति में बनना बिगड़ना और ठहरना तीन प्रकार की शक्तियां तो चेतन के बिना नहीं हो सकतीं फिर किस प्रकार मानी जा सकती हैं ?

प्रश्न—एक ही ब्रह्म को मान कर भी जगत की उत्पत्ति असम्भव होगी। क्योंकि उत्पत्ति दो प्रकार से होती है। संयोग अर्थात् मिलाप से वियोग अर्थात् प्रथक् होने से जब ब्रह्म एक है उस के विभाग नहीं जिन के संयोग से सृष्टि बन सके और न निराकार के खण्ड हो सकते हैं इस लिये वियोग से भी सृष्टि नहीं हो सकती। जब ब्रह्म से भी सृष्टि की रचना असम्भव है तो यह दोष दोनों में समान है परन्तु प्रकृति प्रत्यक्ष होने से इस के कार्य बनने और बिगड़ने वाले देखे जाने से प्रकृति से जगत की उत्पत्ति मानना ही ठीक है।

उत्तर—ब्रह्म एक ही है और इस में कोई सन्देह नहीं, परन्तु जगत की रचना करने वाला, स्थित रखने वाला, और नाश करने वाला है। वेदान्त शास्त्र कर्त्ता का विवाद कर्त्ता से है न कि उपादान कारण से। प्रकृति जगत का उपादान कारण है और ब्रह्म जगत का निमित्त कारण है जो मनुष्य प्रकृति को निमित्त और उपादान कारण दोनों ही मानते हैं वह असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं यदि केवल प्रकृति से ही जगत बन जाता है तो विना कुम्हार के घड़ा और विना कोली के पट बन जाने चाहियें इस लिये यह मानना पड़ता है कि अकेली प्रकृति को जगत का उपादान कारण मानने और इस के लिये ब्रह्म को जगत का निमित्त कारण मानने से ठीक व्यवस्था हो सकती है।

प्रश्न—यदि दोनों कारण भिन्न २ रूप से मान लिये जावें तो उपरोक्त श्रुतियों से विरोध होगा। क्योंकि इस जगत से पूर्व एक ही आत्मा और एक ही सत् माना गया है।

उत्तर—ब्रह्म के लक्षण करने से ही सब झगड़ा शान्त हो जाता है जो तीन शब्दों से मिश्रित है 'सत्" जिस का अर्थ आरम्भ और अन्त से रहित। यदि वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्त में एक ही अजन्मा और अनन्त होता तो ब्रह्म के लिये सत् शब्द का प्रयोग पर्य्याप्त था। "चित्" और आनन्द के कहने की आवश्यकता ही न पड़ती। इस लिये सत् तीन हैं अर्थात् जीव, ब्रह्म और प्रकृति। इस लिये प्रकृति से ब्रह्म को भिन्न दिखलाने के निमित्त चित् अर्थात ज्ञान वाला कहा। यदि वेदान्त शास्त्र के आचार्य जीव ब्रह्म को एक मानते

हैं तो ब्रह्म के लिये सत-चित् यह लक्षण पर्याप्त था। परन्तु जीव और ब्रह्म का भेद है इस लिये यह गुण दोनों में विद्यमान थे इस कारण ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द बतलाया अतः जहां सृष्टि से पूर्व सत् बतलाया है उस का आशय तीनों से है क्योंकि तीनों ही सत् हैं। सृष्टि से पूर्व एक आत्मा था इस से भी तीनों का ही बोध होता है। क्योंकि आत्मा शब्द का अर्थ व्यापक है जो विना व्याप्य के हो नहीं सकता अतः आत्मा शब्द के अर्थ का बोध होता है। एक वह जो व्यापक है दूसरा वह कि जिस में व्यापक है अतः प्रकृति में आत्मा के व्यापक होने से ही आत्मा शब्द से प्रगट हो जाती है? दूसरे आत्मा भी दो हैं शरीर में व्यापक होने से जीवात्मा और संसार में व्यापक होने से परमात्मा इस लिये सत् के शब्द में जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीन विद्यमान हैं एवं आत्मा शब्द से भी तीनों का बोध होता है।

प्रश्न—समस्त विद्वान तो यह मानते हैं कि वेदान्त शास्त्र में एक ही ब्रह्म का विचार है आप तीन मानते हैं अब आप की बात मानें अथवा सब विद्वानों की माननी चाहिये।

उत्तर—निस्सन्देह वेदान्त शास्त्र एक ही ब्रह्म के विचार के लिये बनाया गया है जैसा कि इस के प्रथम सूत्र से विदित होता है परन्तु वह जीव तथा प्रकृति का निषेध नहीं करता किन्तु सहस्रों श्रुतियों और वेद के मंत्रों से प्रकृति और जीव के अस्तित्व का प्रमाण देता है इस कारण वेदान्त दर्शन जगत के निमित्त कारण और ज्ञान की अन्तिम पराकाष्ठा और मुक्ति के यथार्थ कारण ब्रह्म का ही विचार करता

है। शेष जगत के कारणों का वर्णन प्रथम पाँच सूत्रों में आ चुका है इस कारण पहिले ही सूत्र में "अथ" शब्द वेद अर्थात् प्रमाणादि के बतलाने वाले शास्त्रों के ज्ञान के पश्चात् ब्रह्म के जानने की इच्छा उत्पन्न होती है व्यास देव ने कहा है।

प्रश्न—वेदान्त के जिस श्लोक में यह बतलाया है कि मैं आधे श्लोक में बतलाऊँगा जो करोड़ों ग्रन्थों में बतलाया है अर्थात् ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है और जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है क्या यह श्लोक मिथ्या हो सकता है?

उत्तर—यह श्लोक तो मिथ्या नहीं, परन्तु तुम्हारे समझने में फेर है क्योंकि इस श्लोक में प्रकृति को मिथ्या नहीं बतलाया और जीव तथा ब्रह्म को भी मिथ्या नहीं कहा गया किन्तु जगत को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य कहा है अर्थात् मुक्ति के लिये ब्रह्म यथार्थ साधन और जगत मिथ्या साधन है। जो मनुष्य ब्रह्म से आनन्द को इच्छा रखते हैं वह सचाई पर हैं और जो जन जगत के विषयों में आनन्द ढूंढते हैं वह मिथ्या ज्ञानी हैं?

प्रश्न—इस श्लोक में यह तो बतलाया है कि जीव ब्रह्म में भेद नहीं।

उत्तर—ठीक तो बतलाया है। जीव से ब्रह्म दूर नहीं जिस प्रकार आंख और अंजन दो वस्तु होने पर भी उस में दूरी नहीं होती इस कारण "ऐ जीव तू मुक्ति के लिये जगत में भटकता हुआ न फिर" "वह ब्रह्म तुझ से दूर नहीं" किन्तु अति समीप है। केवल तुझे जो दर्पण ब्रह्म के देखने के लिये

दिया है इस को ठीक करने की आवश्यकता है अर्थात् (शुद्ध अन्तःकरण रखना चाहिये)। —"अनुवादक"

प्रश्न—वह दर्पण कौन सा है कि जिस के द्वारा ब्रह्म जाना जाता है ?

उत्तर—वह दर्पण मन है क्योंकि उपनिषद् कारों ने लिखा है कि *यह ब्रह्म मन ही से जाना जाता है। इस स्थान में बहुत सी वस्तुयें नहीं हैं वह मनुष्य बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं जो इस स्थान में बहुत सी वस्तुओं को जानते हैं।

प्रश्न—देखो श्रुति स्पष्ट शब्दों में बतला रही है कि जो लोग यहां बहुत सी वस्तुओं को जानते हैं वह बारम्बार जन्म पाते हैं अर्थात् मुक्ति से रहित हो जाते हैं।

उत्तर—निस्सन्देह जिस प्रकार आंखों में एक केवल अंजन ही होता है बहुत सी वस्तुयें नहीं होतीं। इसी प्रकार जीवात्मा के भीतर केवल परमात्मा ही रह सकता है क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ में स्थूल वस्तु नहीं रह सकती किन्तु स्थूल पदार्थों में सूक्ष्म वस्तु रहा करती है। यतः प्रकृति जीव से स्थूल है इस कारण वह जीव के भीतर नहीं रह सकती जीव के भीतर केवल ब्रह्म ही रह सकता है। अतः जो जीव के भीतर बहुत से पदार्थ देखता है वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

---

* प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ —"अनुवादक"

इस (मुण्डकोपनिषद्) में मन के द्वारा स्थिर हुए प्रमाद से रहित ब्रह्म (ओङ्कार) का ध्यान कहा है।

प्रश्न—मनुष्य तो कहते हैं कि ब्रह्म मन और इन्द्रियों का विषय नहीं और श्रुति भी बतलाती है परन्तु उपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्म मन से नहीं जाना जाता और कठोपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्म मन से ही जाना जाता है इन दो विरुद्ध बातों में से कौन सी सत्य है परस्पर के विरोध से दोनों मिथ्या प्रमाणित होते हैं अर्थात् ब्रह्म है ही नहीं ?

उत्तर—दोनों में विरोध नहीं। क्योंकि उन की दो दशायें हैं एक मल विक्षेप और आवरण से मुक्ति मन दूसरा इन से रहित। जिस दशा में मन इन दोनों से मुक्त होता है उस समय मन से ब्रह्म नहीं जाता और जब मन इन दोनों से रहित होता है तब ब्रह्म को जान सकता है।

प्रश्न—सब आचार्य तो वेदान्त का भाष्य करते हुये जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं आप "द्वैत" की ओर ले जाते हैं देखो "रत्न प्रभा" टीका लिखने वाले गोविन्दानन्द जी ने लिखा है "जीव ब्रह्म ही है" आत्मा होने से ब्रह्म की ओर क्या यह झूठ हो सकता है ?

उत्तर— यह अनुमान मिथ्या है। क्योंकि जीव का ब्रह्म होना साध्य और ब्रह्म दृष्टान्त है यह तो ऐसा अनुमान है कि जैसे कोई कहे कि 'कलक्टर एडवर्ड' है हाकिम होने से "एडवर्ड" की भाँति ! अथवा अग्नि, जल है द्रव्य होने से जल की भांति ! इस प्रकार के मिथ्या उदाहरण ही तो सिद्धान्त को बिगाड़ते हैं।

प्रश्न—निश्चल दास जी भी विचार सागर में ऐसा अनुमान करते हैं कि जीव ब्रह्म से अभिन्न है चेतन होने से। क्या यह भी ठीक नहीं है ?

उत्तर—संसार में चेतन वस्तुयें हैं उन में गुणों में अनुकूलता और प्रतिकूलता अवश्य होती है किसी एक गुण के मिल जाने से दो वस्तुओं का एक होना सत्य नहीं। इस प्रकार के हेत्वाभास संसार में मूर्खता और स्वार्थ कहे जाते हैं। उदाहरण की रीति से यदि कोई कहे कि "मनुष्य गधा है" जीवधारी होने से। इस हेतु को कौनसा बुद्धिमान स्वीकार करेगा। कौन विद्वान और धर्मात्मा पुरुष इस प्रकार के धोखे दे सकता है।

प्रश्न—इस में क्या धोखा है !*

उत्तर—पहिले तो प्रतिज्ञा में दो बातें होती हैं एक पक्ष और दूसरा साध्य। अब प्रश्न यह है कि जीव को यदि पक्ष माना जावे तो ब्रह्मपन इस में साध्य हो जाता है परन्तु ब्रह्मत्व (ब्रह्मपन) केवल ब्रह्म अन्य में नहीं रह सकता। परन्तु केवल यदि जीव और ब्रह्म इन दोनों को विरोधी मान लिया जावे तो उस दशा में जो लक्षण भिन्न २ किये हैं वह असिद्ध हो जावेंगे। क्योंकि जीव का लक्षण है अविद्योपाधि से ढँका हुआ चेतन और ब्रह्म है शुद्ध चेतन। किसी एक गुण के मिलने से समानता और जातित्व तो हो सकता है जैसे सब जीवधारी हैं चाहे वह गधा हो घोड़ा परन्तु पशु पन अवश्य होगा परन्तु इस जातित्व और समानता से दो विरुद्ध

* भाष्यकर्त्ता के धोखा शब्द का प्रयोग न्याय के "छल" शब्द से विदित है कि जिसे बहुधा तार्किक लोग स्वपक्ष समर्थन में लाया करते हैं।
-"अनुवादक"

स्वरूप एक नहीं हो सकते ? आत्मपन और चेतनपन दोनों जाति हैं जो एक में रहा ही नहीं करते। किन्तु ऐसे पदार्थ नियमित हैं कि जिन से समानता प्रकट होती है इस लिये जाति को एकता का हेतु कहना या तो अज्ञान है अथवा छल है। यदि इन लोगों ने यह हेतु सचाई से दिये हैं तो वह अज्ञानी थे और यदि जानते हुये दिये तो छली थे।

प्रश्न—इन बड़े २ विद्वानों को ऐसा कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं। इन के ग्रन्थ आज लाखों साधू और पण्डित पढ़ते हैं। तुम इन को अविद्वान कहते हो।

उत्तर—निस्सन्देह लाखों मनुष्य इन के ग्रन्थों को पढ़ते हैं जिस से वह विद्या के स्थान में अविद्या को प्राप्त करते हैं यह मनुष्य शब्दों के पण्डित होंगे परन्तु अर्थों में तो पद पद पर धोखा खाया है।

प्रश्न—निश्चल दास जी की विद्या तो स्वीकृत है इन को शब्दों का पण्डित कहना उचित नहीं !

उत्तर—अविद्या दो प्रकार से उत्पन्न होती है, एक इन्द्रियों के दूषण से दूसरे संस्कार दोष से। इन लोगों को बाल्यपन से ही इस प्रकार के मिथ्या संस्कार डाले गये जिस से उन्हों ने स्वयं अविद्वान होकर समस्त देश में अविद्या फैला दी।

प्रश्न—अविद्या का कोई प्रमाण भी दे सकते हो ? सब तो इन को आचार्य मानते हैं !

उत्तर—विचार सागर पहिला अध्याय का पाठ करो।

अलख अगाध स्वरूप..

यदि वह इतना भी जानते कि "वष्णु सर्व व्यापक है' और 'हंस" भी सर्व व्यापक है और बड़े समुद्र की एक अग्नि में हुआ करते हैं सर्व व्यापक नहीं होते तो ऐसा अस्त व्यस्त (अण्ड बण्ड) न लिखता।

प्रश्न—ब्रह्म के जगत कर्त्ता होने और प्रकृति के कर्त्ता होने में क्या प्रमाण है!

उत्तर—

ईक्षते नाशब्दम् ॥५॥

पदार्थ—'ईक्षते' ज्ञान पूर्वक। 'न' नहीं। 'अशब्दम्' वेद से बाहर।

अन्वयार्थ—प्रकृति जगत का निमित्त कारण नहीं हो सकती, क्योंकि इस में ज्ञान न होने से जो उपनिषदों ने बतलाया है "ईक्षण" अर्थात् ज्ञान पूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। और इस जगत में सब काम ज्ञान के अनुसार दिखलाई देते हैं। सौर्य जगत का प्रबन्ध, पिण्डों का घूमना, ऋतुओं के परिवर्तन, चन्द्र तथा सूर्य ग्रहण, इत्यादि का ठीक समय पर नियमानुकूल होना बतला रहा है कि जगत की ज्ञान के अनुकूल सृष्टि हुई है

और ज्ञान से रहित प्रकृति में ज्ञान के अनुकूल काम करने की शक्ति नहीं इस लिये उपनिषदों में जहां जहां लिखा है कि जगत से पूर्व सत् था उस का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिये। क्योंकि आगे लिखा है कि इस ने "ईक्षण" किया* अर्थात् ज्ञान पूर्वक अनेक प्रकार की प्रजा बनाई।

प्रश्न—इस ने अपने स्वरूप से अनेक प्रकार की प्रजा बनाई अथवा उपादान कारण भिन्न था। और अनेक प्रकार की प्रजा बनाने में जो इस को इच्छा हुई इसका क्या कारण था?

उत्तर—परमात्मा के नित्य होने से उस के सब गुण भी नित्य है वह ईश्वर है इस लिये उसका ऐश्वर्य प्रकृति भी नित्य है और तीन काल में रहने वाला राजा है इस लिये इस की प्रजा जो जीव है यह भी तीनों कालों में रहने वाली है परन्तु जीव तो सब एक प्रकार के हैं परन्तु बहुत प्रकार के प्रजातंत्र होते हैं। जब वह कर्मों के कारण (योग से) कर्म योनि, भोग योनि, और उभय योनि अर्थात् कर्म करने वाला और भोगने वाला। आगे के लिये करने और पिछले भोगने वाला बनता है परमात्मेच्छा (ईश्वराज्ञानुकूल) काम नहीं करता किन्तु उस के ज्ञान, बल, और क्रिया सब स्वाभाविक है इस कारण उस ने नित्य ऐश्वर्य प्रकृति में से भिन्न २ प्रकार

---

* स ईक्षते मां लोकान नु सृजा इति, स इमां लोका नु सृजत।
(एत० १ । १)

के शरीर देकर भिन्न २ प्रकार का बना दिया।

प्रश्न—यतः प्रधान में सतोगुण है इस कारण उस को ज्ञान वाला मानने में "ईक्षण" हो सकता है।

उत्तर—यदि प्रकृति का सतोगुण जो प्रकाश शील है ज्ञान के अनुकूल काम करे तो इस के तमोगुण ज्ञान को नितान्त नाश करदे। इस कारण प्रकृति से ज्ञान पूर्वक क्रिया होना असम्भव है क्योंकि वह सत्, रज और तम तीन गुणों वाली और उन गुणों की साम्यावस्था है। अर्थात् एक दूसरे को नाश करने योग्य नहीं। सतो गुण प्रकाशशील है प्रकाशक साक्षी अर्थात् प्रकाश को देखने वाला नहीं होता। जैसे दीपक वस्तुओं को दिखलाता है स्वयं द्रष्टा साक्षी नहीं। इस कारण प्रकृति ज्ञान के अनुकूल काम नहीं कर सकती इस लिये सर्वज्ञ ब्रह्म ही ज्ञान पूर्वक काम कर सकता है न तो अल्पज्ञ जीव सृष्टि रच सकता है न प्रकृति।

प्रश्न—ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्यों कि इस का ज्ञान स्वाभाविक है और कार्य नित्य उत्पन्न होते हैं। इस कारण यदि इन का ज्ञान ब्रह्म को हो तो वह स्वाभाविक ज्ञान नहीं रहेगा। किन्तु नैमित्तिक ज्ञान होगा।

उत्तर—यदि वस्तु पहिले बने और ज्ञान ब्रह्म को पीछे हो तो वह ज्ञान नैमित्तिक हो सकता है परन्तु जब पदार्थ ब्रह्म के ज्ञान पूर्वक क्रिया से बनती हैं तो वस्तु के बनने से पूर्व ब्रह्म को ज्ञान है इस दशा में नैमित्तिक ज्ञान की भांति नहीं कहलाया जा सकता। ब्रह्म को स्वाभाविक ज्ञान (सर्व-प्रत्यक्षी-भाव) ही हो सकता है।

प्रश्न—ब्रह्म में क्रिया नहीं हो सकती क्यों कि वह सर्वव्यापक है इस लिये जब इस में क्रिया नहीं तो जगत रचने में जो क्रिया करनी पड़ती है उस को नहीं कर सकता इस लिये प्रकृति में क्रिया माननी चाहिये।

उत्तर—निस्सन्देह ब्रह्म निष्क्रिय (क्रिया रहित) है परन्तु वह प्रकृति को क्रिया देकर जगत बनाता है और यह क्रिया देना इस का स्वाभाविक धर्म है इस कारण इस की क्रिया स्वभाविक कहलाती है।

प्रश्न—ऐसा मानना उचित नहीं। क्यों कि इस का कोई उदाहरण नहीं कि जो गुण उस में न हो वह दूसरे को दे सके। जिस के पास धन नहीं वह दूसरे को किस प्रकार धन दे सकता है जिस में क्रिया नहीं वह दूसरों को किस प्रकार क्रिया दे सकता है इस से शून्य से अस्तित्व की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

उत्तर—परमात्मा ने जो कुछ वेदों द्वारा दिया है सब के उदाहरण विद्यमान हैं। जैसे अयस्कान्त मणि (चुम्बक पत्थर) स्वयं क्रिया नहीं करता परन्तु लोहे में क्रिया कर अपनी ओर खींच लेता है। इसी प्रकार सर्वज्ञ सर्वव्यापक ब्रह्म अपनी शक्ति से जड़ प्रकृति को क्रियात्मक कर जगत को बनाता है यह बनाना ब्रह्म ही का काम है। प्रकृति का नहीं कहा जा सकता!

प्रश्न—वह कोन सा कर्म या पदार्थ है कि जो उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म के ज्ञान का विषय होता है क्यों कि यदि जानने योग्य कोई वस्तु न हो तो ज्ञान किसका होगा।

उत्तर—संसार में कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती किन्तु सब वस्तुयें (पदार्थ) प्रवाह से अनादि हैं। प्रकृति के भीतर सब प्रकार के कर्म विद्यमान हैं* अर्थात् कर्म पांच प्रकार के होते हैं। (१) नीचे गिरना (२) उछलना (३) सुकड़ना (४) फैलना (५) और चलना यह पांचों भूतों के भीतर परमात्मा की शक्ति से रहते हैं। अग्नि के भीतर उछालना, पानी के भीतर गिरना, पृथ्वी में सुकड़ना, आकाश में फैलने का केन्द्र होना, और वायु में चलना जीव में क्रिया स्वातंत्र्य अर्थात् करने न करने और विपरीति करने की शक्ति का होना इन कर्मों के नित्य होने से ईश्वर का ज्ञान समान और नित्य ही बना रहता है इस के ज्ञान और कर्म में कोई अन्तर नहीं आता।

प्रश्न—यदि ईश्वर का ज्ञान नित्य बना रहता है तो श्रुति ने यह क्यों कहा कि इस ने ज्ञान पूर्वक कर्म किया† जिस से स्पष्ट विदित होता है कि किसी विशेष समय में इस ने ज्ञान पूर्वक कर्म किया कि जिस से इस का कर्म और ज्ञान अनित्य सिद्ध होता है।

---

* उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।

(वैशे० १।१।७)

† "तपसा चीयते ब्रह्मेति" मुण्डकोपनिषद् में "तप" शब्द का अर्थ "यस्य ज्ञानमयं तपः है अर्थात् जिस का ज्ञान" ही तप है। यह तप ही उस का ज्ञान पूर्वक कर्म है। -"अनुवादक"

उत्तर—यह शब्द उपनिषद्कार ऋषि इस बात को बतलाने के लिये कहते हैं कि सृष्टि सहसा नहीं बन जाती किन्तु बनाने वाला इस को ज्ञान के अनुसार बनाता है इसी लिये वेद ने स्पष्ट शब्दों में बतला दिया कि प्रत्येक सृष्टि के मनुष्य जब पढ़ें तब इन को वेद से ज्ञान हो जावे कि जिस प्रकार सूर्य चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र इत्यादि परमात्मा ने पूर्व बनाये थे ऐसे ही अब बनाये हैं* यद्यपि स्वरूप से सृष्टि का आरम्भ और अन्त है परन्तु प्रवाह से सृष्टि अनादि है।

प्रश्न—पदार्थ नित्य नये २ बनते हैं। ब्रह्म में नैमित्तिक ज्ञान की शक्ति नहीं इस कारण वह सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता?

उत्तर—यतः हम पहिले बतला चुके हैं कि जाति के नित्य होने से कोई पदार्थ नवीन नहीं होते किन्तु प्रत्येक कार्य के भीतर तीन वस्तुयें होती हैं। जाति, और आकृति अर्थात् रूप तीसरी व्यक्ति कि जिस में आकृति (रूप) और जाति रहती हैं। इन में से "जाति" तो नित्य है और 'आकृति' बनाने वाले के ज्ञान में रहती है और व्यक्ति उपादान कारण में रहती है। इस कारण तीनों वस्तुओं के नित्य होने से कोई वस्तु नूतन आविष्कार में नहीं आती किन्तु तीनों पदार्थों के मिलाने वाले को उत्पादक कहते हैं।

प्रश्न—हम तो अहर्निशि (रात दिन) आकार अर्थात् आकृति को बनता हुआ देखते हैं। प्रत्यक्ष बात किस प्रकार

---

* सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ वेद। अनु०।

मिथ्या हो सकती है और आविष्कार तो प्रति दिन नये २ होते हैं।

उत्तर—जिस प्रकार भवन बनने से पूर्व उसका मानचित्र बनता है वह मानचित्र शिल्पकार के मस्तिष्क में होता है जिस को मकान बनाने वाले कारीगर प्रकट करते हैं। यदि भवन बनने से पूर्व मान चित्र न होता तो किस प्रकार उस को प्रकट किया जा सकता था।

प्रश्न—यदि भवन से पूर्व मानचित्र होता है तो भी किसी भवन को देख कर बनाया जाता है इसी प्रकार भवन से पूर्व मानचित्र और मानचित्र से पूर्व भवन होने से प्रवाह अवश्य सिद्ध होगा जो ठीक नहीं ?

उत्तर—इस क्रमको 'प्रवाह से अनादि' कहते हैं। इस से हानि नहीं किन्तु सत्यता प्रकट होती है क्यों कि ईश्वर के ·····स्वाभाविक कर्त्ता होने से, इस के जगत उत्पत्ति करने के नियम नित्य हैं जिससे संसार क्रम पूर्वक बनता है इस कारण ब्रह्म सर्वज्ञ है और जगत् का कर्त्ता है।

प्रश्न—क्या उपनिषदों में जो प्रकृति के कार्य अग्नि और जल इत्यादि में ज्ञान पूर्वक क्रिया मानी है वह "गुण" है ?

उत्तर—गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

पदार्थ—'गौणः' व्यवहारिक अथवा आनुमानिक 'चेत्' यदि हो। 'न' नहीं। 'आत्मशब्दात्' उपनिषद् का भावार्थ आत्मा से होने से।

अन्वयार्थ—यदि यह कहा जावे कि जिस प्रकार उपनिषदों में लिखा है कि तेज अर्थात् अग्नि ने ज्ञान पूर्वक काम किया अथवा जल ने ज्ञान के अनुसार क्रिया की अथवा अन्न ने ज्ञानानुकूल क्रिया की। इस तरह पर क्रिया करते हैं यदि इसी क्रिया को स्वीकार किया जाता तो इस पर महर्षि व्यास देव जी कहते हैं कि यह मानना कठी नहीं क्यों कि इस ज्ञान पूर्वक करने का ठीक क्रम "सत्" से आरम्भ होता है जो आत्मा का नाम है जिसको पूर्व सिद्ध कर चुके हैं जैसे—एंजिन की क्रिया से क्रियाशील हो कर कोई गाड़ी दूसरी गाड़ी को गमन-शील कर दे तो वह क्रिया उस गाड़ी का धर्म नहीं होगा किन्तु वह क्रिया एंजिन के कारण होगी। इसी प्रकार यदि ब्रह्म की "क्रिया" से सर्व जगत और सब पदार्थ क्रिया कर रहीं हैं। परन्तु यह क्रिया इन का अपना निज धर्म नहीं है किन्तु जिस ने इन को चलाया है यह क्रिया उसी की है। जैसे एक घड़ी बनाने वाले ने एक घड़ी बनाई जो चाबी देने से एक सप्ताह तक चलती है चलाने वाला कुंजी दे कर अलग हो गया अब मूर्ख मनुष्य इस जड़ घड़ी को चलता हुआ देख कर

विचार लेता है कि घड़ी स्वयं चलती है परन्तु ज्ञानी जानता है कि अचेतन में क्रिया नहीं होती। इस कारण घड़ी अपनी क्रिया से नहीं चलती किन्तु उसको किसी चेतन चलाने वाले ने क्रियात्मक किया है।

प्रश्न—क्या जड़ पदार्थों में क्रिया नहीं होती?

उत्तर—क्रिया जड़ में होही नहीं सकती। जहां क्रिया है वह चेतन के कारण से है एक क्रिया सापेक्ष होती है दूसरी नियमनन। जहां सापेक्ष क्रिया होती है वह जीवात्मा के कारण है। जहां नियमनन क्रिया होती है वह परमात्मा के द्वारा। जड़ प्रकृति में किसी प्रकार की क्रिया नहीं है।

प्रश्न—सापेक्ष क्रिया किसे कहते हैं?

उत्तर—जिस में तीन प्रकार की क्रियायें अर्थात् करना न करना विपरीत करना पाया जावे और जिस में कोई नियत नियम न पाया जावे वह क्रिया सापेक्ष होती है। बहुधा अज्ञानी जीव इस प्रकार की क्रिया का कारण होते हैं वह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है।

प्रश्न—नियमनन क्रिया किसे कहते हैं?

उत्तर—जो एक प्रकार की क्रिया नियम अर्थात् क्रम से बंधी हुई हो। जिस नियम के भीतर न्यूनाधिकता न हो सके वह नियमनन अथवा नियन्त्रण क्रिया कहलाती है। जो परमात्मा और उस के ज्ञान को प्राप्त करने वाले मनुष्यों के

कारण होती है। ब्रह्माण्ड सौर्य जगत और पिण्डों आदि में क्रिया परमात्मा के कारण नियन्त्रण अथवा नियमनन क्रिया नामक होती है। और घड़ी आदि भौतिक कुलों में क्रिया मानवो ज्ञान के कारण नियम के लिये है।

प्रश्न—यदि प्रकृति के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया जावे जैसे "मन" आदि के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है तो क्या हानि है ?

उत्तर—प्रकृति के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया जावे तो वह किसी में व्यापक होगी क्योंकि परमात्मा को संसार में व्यापक होने से और जीव को शरीर में व्यापक होने से आत्मा कहा जाता है। प्रकृति को किस में व्यापक होने से आत्मा कहा जावे यदि किसी क्षेत्र के विना परिध कही जावे तो व्यर्थ है।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि परमात्मा में प्रकृति व्यापक है और प्रकृति में परमात्मा व्यापक है इस कारण दोनों को आत्मा कह सकते हैं ?

उत्तर—यह विचार यथार्थ नहीं ? क्योंकि स्थूल पदार्थ में सूक्ष्म पदार्थ व्यापक हो सकता है जब प्रकृति में परमात्मा को व्यापक मानेंगे तब परमात्मा को प्रकृति से सूक्ष्म मानना पड़ेगा। जब प्रकृति को परमात्मा में व्यापक मानेंगे तो प्रकृति परमात्मा से सूक्ष्म माननी पड़ेगी। एक ही वस्तु में दो स्थूल और सूक्ष्म धर्म एक ही के विषय में माने नहीं जा सकते अतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं !

प्रश्न—प्रकृति को ज्ञान पूर्वक कर्त्ता या आत्मा मानने में और भी कोई हानि है ?

[उत्तर— तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

पदार्थ—'तन्निष्ठय' इस में चित् के स्थिर होने से है । 'मोक्षोपदेशात्' मोक्ष का उपदेश होने से ।

अन्वयार्थ—सब शास्त्र कार और वेद इस बात का उपदेश करते हैं कि जिस को परमात्मा का साक्षात ज्ञान होता है उस की मुक्ति होती है और जो प्रकृति की उपासना करता है वह महान्धकार वाली योनियों को प्राप्त होता है✻ यदि प्रकृति को आत्मा मान लिया जावे तो वेद के विरुद्ध होने के अतिरिक्त व्यवस्था भी ठीक नहीं होगी । क्योंकि बन्धन के कारण मोक्ष होना असम्भव है । और भी बतलाया है कि जो आत्मा को जानते हैं वह दुखों से तर जाते हैं† प्रकृति को आत्मा कहने से इस के जानने से दुखों से तर जाना चाहिये परन्तु यह हो नहीं सकता ।

✻ अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूति उपासते । -"अनुवादक"

† तरति शोकमात्मवित् । -"अनुवादक"

प्रश्न—क्या यह आवश्यक है कि जिस से वेद मोक्ष बतलाये उस से मोक्ष होही जावे। और प्रकृति से वन्धन हो। यदि वन्धन और मोक्ष दोनों प्रकृति से माने जावें जैसा कि हम संसार में देखते हैं कि वही वस्तु उचित रीति पर प्रयोग करने से सुख का कारण हो जाती है और अनुचित रीति पर दुख का कारण होती है इसी प्रकार प्रकृति के सत्य ज्ञान से मोक्ष और मिथ्या ज्ञान से बन्धन हो सकता है।

उत्तर—प्रकृति परतंत्र है वह जीव को बांध नहीं सकती जैसा कि महर्षि कपिल जी सांख्य दर्शन में लिखते हैं * और ज्ञान से रहित होने से जीवों को उचित ज्ञान देकर मोक्ष को भी नहीं दे सकती। इस कारण वन्धन का कारण मिथ्या ज्ञान है जो अल्पज्ञ और अज्ञानी के संयोग से होता है। और मोक्ष का कारण तत्व ज्ञान है जो अल्पज्ञ और सर्वज्ञ के सम्बन्ध से होता है इस कारण मोक्ष, ज्ञान से रहित प्रकृति से किसी दशा में नहीं होसकती। अतः प्रकृति को आत्मा किसी दशा में भी नहीं कह सकते।

प्रश्न—क्या आत्मा परमात्मा के अभेद ज्ञान के विना कभी मोक्ष हो सकती है। क्योंकि जब तक भेद है तब तक दूरी है और जब तक दूरी है तब तक साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता। और जब तक साक्षात् ज्ञान न हो तब तक मोक्ष कैसे हो सकती है ?

---

* प्रकृतिनिवन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्। (सां० १। १८)

-"अनुवादक"

उत्तर—भेद अर्थात् दूरी तीन प्रकार की होती है। जीवात्मा और परमात्मा में नित्य होने से काल की दूरी नहीं और परमात्मा के सर्व व्यापक होने से देश की दूरी नहीं केवल ज्ञान की दूरी है जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा मेरा आत्मा है अर्थात् मुझ में व्यापक है तब वह दूरी (भेद) हो जाती है परन्तु यह जानना कि मैं ही परमात्मा हूं शास्त्रों और वेदों के विरुद्ध है जिस को आगे वर्णन करेंगे।

प्रश्न—जिस प्रकार स्वामी अपने सेवक अथवा पिता अपने पुत्र को आत्म शब्द से पुकारता है। इसी प्रकार यदि-प्रकृति को आत्म शब्द को पुकार कर कहा हो कि जो आत्मा को जानता है वह दुखों से छूट जाता है अर्थात् जो प्रकृति को जानता है वह दुखों से छूट जाता है कि जीवात्मा और परमात्मा के जानने न जानने का प्रभाव समान होता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष नहीं अतः हम इन से कोई कार्य सम्पादन नहीं कर सकते कि जिस से सीधा उलटा फल हो सके परन्तु प्रकृति के उचित प्रयोग से सुख और अनुचित प्रयोग से दुख प्रत्यक्ष होता है अतः निश्चय यही होता है कि आत्मा शब्द प्रकृति के लिये प्रयोग किया गया है।

उत्तर—सुख दुख का कारण अहंकार है जिस वस्तु में अहंकार होता है उस के बनने अथवा बिगड़ने से दुख और सुख होता है जैसे किसी का एक घर है यदि वह जल जावे तो घर-स्वामी को अत्यन्त कष्ट होता है। परन्तु यदि उस घर के बेचने के थोड़ी देर पश्चात् वही घर जल जावे

तो गृह-पति को कोई कष्ट नहीं होता इस से स्पष्ट है कि बेचने से न तो घर ही और हो गया था और न स्वामी। फिर क्या कारण है कि बेचने से पूर्व घर के जलने ने कष्ट पहुंचाया और बेचने के पश्चात् रंचक (तनिक) भी कष्ट न हुआ। इसका कारण स्पष्ट है कि बेचने से पूर्व इस में अहंकार था और बेचने के पश्चात् इस का अहंकार नहीं रहा। क्या कारण है कि प्रत्येक दिन सहस्रों मनुष्य मरते हैं हमें कोई कष्ट अनुभव नहीं होता परन्तु जिस दिन कोई हमारा सम्बन्धी मर जाता है उस दिन हमें इतना कष्ट होता है कि चीख़ मार कर रोते हैं। इस लिये जब आत्मज्ञान होगा तो सांसारिक कोई ऐसी वस्तु नहीं रहेगी कि जिस में अहंकार हो सके। क्योंकि सांसारिक समस्त पदार्थ प्रकृति का कार्य हैं। इन में अहंकार से तो कष्ट हो सकते हैं क्योंकि प्रकृति दुख स्वरूप है परन्तु आनन्द नहीं मिल सकता। क्योंकि वह प्रकृति में है ही नहीं।

प्रश्न—प्रकृति दुख स्वरूप है इस में क्या प्रमाण है?

उत्तर—दुख नाम परतंत्रता अर्थात् स्वतंत्रता न होने का है। परमात्मा स्वतंत्र है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र और भोगने में परतंत्र है परमात्मा के संग से जीव की स्वतंत्रता बढ़ती है और प्रकृति के संग से परतंत्रता बढ़ती है। अतः परतंत्रता दुख है अतएव परतंत्र प्रकृति दुख स्वरूप है जो इस की उपासना करता है वही दुख को भोगता है इस को प्रत्येक जीव नित्यप्रति अनुभव करता है।

प्रश्न—हम तो कभी प्रकृति से सुख अनुभव करते हैं कभी दुख ऐसा हमने कभी नहीं देखा कि केवल दुख का ही अनुभव हो ?

उत्तर—इन्द्रियां प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति से बनी हुई वस्तुओं का ही अनुभव कराने वाली हैं अतः जब जागते हैं तब इन्द्रियों से काम लेते हैं जिस से प्रकृति की उपासना ही होती है। उस समय केवल दुःख के कुछ अनुभव नहीं होता। ईर्षा द्वेष, काम क्रोध, लोभ, मोह रोग, क्षुधा, तृषा सब जागृत अवस्था में ही जाने जाते हैं। सोने की दशा में जब प्रकृति का सम्बन्ध करने वाली इन्द्रियां जब व्यापार (काम) नहीं करतीं कोई दुःख अनुभव नहीं होता इस का प्रमाण सूत्र कार देते हैं।

हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

पदार्थ—'हेयत्व' त्यागन करने योग्य। 'अवचनात्' न कथन करने से 'च' प्रतिज्ञा के विरुद्ध दिखलाने के लिये हैं।

अन्वयार्थ—यदि प्रकृति में उपचार से सत् शब्द कहा जाता जैसे किसी समय नवीन चन्द्र चढ़ता है और कम दिखाई देता है तो पहिले किसी मोटे पदार्थ को दिखलाते हैं जो इस ओर हो जब वह दिखलाई देने लगता है तब कहा जाता है कि इस

की पश्चिम की ओर चन्द्रमा है। पहिले पदार्थ चन्द्रमा के दिखलाने के लिये बतलाया गया था यदि इसी प्रकार परमात्मा को जो अति सूक्ष्म है सत् सिद्ध करने के पूर्व प्रकृति को सत् बतलाया होतो ठीक नहीं क्योंकि इस दशा में इस पूर्व का त्याग करना होता है यहाँ प्रकृति को असत् कहीं नहीं दिखलाया अतः उपनिषद् में सत् शब्द सीधा आत्मा के लिये है प्रकृति के लिये नहीं।

प्रश्न—उपनिषद् में बतलाया है कि जैसे एक मिट्टी को जान कर मिट्टी से बने हुये सब पदार्थ जाने जाते हैं इन बनी हुई वस्तुओं का नाम रूप और आकृति होने से कल्पना की जाती है कि यथार्थ में मिट्टी प्रत्येक वस्तु है। इस दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि उपादान कारण के जानने से ही समस्त कार्यों का ज्ञान होता है और जगत का उपादान कारण प्रकृति है अतः सत् शब्द से उपनिषद्कार का तात्पर्य्य उपादान कारण प्रकृति ही हो सकता है और भी जितने दृष्टान्त हैं वह भी उपादान कारण के विदित होते हैं।

उत्तर—उपादान कारण से कार्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता है इस को बतलाने की आवश्यकता नहीं होती परन्तु कर्त्ता का ज्ञान अनुमान और शब्द प्रमाण से होता है इस को स्वयं कोई नहीं जान सकता अतएव शब्द प्रमाण जिस सत् से कारण को उपनिषदों ने बतलाया है वह ब्रह्म ही है क्योंकि

वह जगत कर्त्ता है इस के बिना उपादान कारण से न तो स्वयं पदार्थ बन सकते हैं जैसे मिट्टी बिना घड़े को कुम्हार नहीं बना सकते। घड़े, लोटे, कूंड़े अपने कारण मिट्टी का तो प्रत्यक्ष स्वयं प्रकट करते हैं परन्तु निमित्त कारण कुम्हार को बतलाने की आवश्यकता होती है जिस प्रकार उपादान कारण मिट्टी तो उन पदार्थों से पूर्व थी इन के बनने पर ही लौटने पर रहेगी वह तीन काल में रहने से सत्य है इसी प्रकार ब्रह्म भी सत्य है क्योंकि उपादान कारण तो स्वयं बना नहीं सकता जिस का विचार हम पीछे कर आये हैं अतः प्रकृति के लिये आत्मा और सत् शब्द नहीं कहे गये। क्योंकि इस के लिये कहे जाते तो इस को त्यागने का वर्णन होता। क्योंकि प्रकृति परतंत्र है और इस कारण त्यागन करने योग्य जो यह दुःख हैं इस का कारण हैं। आत्मा सुख स्वरूप होने से त्यागन करने योग्य नहीं। जब कि प्रकृति त्यागने योग्य है और उपनिषद् कारों ने वहां सत् शब्द के साथ त्यागने योग्य होने का वर्णन नहीं किया। अतः आत्मा अर्थ ही लेना योग्य है आगे और उदाहरण देते हैं :—

स्वाप्ययात् ॥९॥

पदार्थ—'स्व' अपने में। 'अप्य यात्' बाहर के विषयों से रहित होकर आनंद लेने से।

अन्वयार्थ—जिस समय मनुष्य सोता है तो उस समय अपनी इंद्रियों से आनंद को प्राप्त करता है।

वाहर के विषय उस समय इंद्रियों से सम्बंध न रखने के कारण विद्यमान नहीं रहते जिस से जीवात्मा का जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति दशा में सम्बंध होता है वह सत् केवल ब्रह्म ही है क्योंकि जीव में स्थूल होने से प्रकृति प्रवेश नहीं कर सकती। इस कारण प्रकृति के साथ जीव का सम्बन्ध दो दशाओं में रहता है एक जागृत में दूसरा स्वप्न में इन दशाओं में जीव कभी सुखी होता है कभी दुखी परन्तु आनन्द रहित होता है केवल सुषुप्ति की दशा में जीव आनन्द को भोगता है यथार्थ में जागृत और स्वप्न में भी जो विषयों में आनन्द प्रतीत होता है वह यथार्थ में इसी आनन्द के कारण ज्ञात होता है। इस कारण ब्रह्म का आनन्द तो तीनों दशाओं में रहने से सत् कहला सकता है और प्रकृति का प्रभाव दो दशाओं के रहने से सत् नहीं कहला सकता। अतः जिस सत् के जानने से सब जानने का अर्थ निकलता है वह केवल ब्रह्म ही है। दूसरी वात यह है कि ब्रह्म सत् से सूक्ष्म और अन्तिम जानने योग्य वस्तु है अतः ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व ही सत् पदार्थों का अर्थात् जीव और प्रकृति का ज्ञान हो जाता है इस लिये

यह प्रतिज्ञा कि जिस के जानने से सब जाने जाते हैं वह जानने योग्य वस्तु जिसे उपनिषदों में सत् कहा है वह केवल ब्रह्म है जिस का प्रभाव समाधि सुषुप्ति और मुक्ति तीन दशाओं में पूर्ण अनुभव होता है शेष दशाओं में प्रकृति के साथ सम्बंध होने से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न—सुख और आनन्द में क्या भेद है? अथवा सुख और आनन्द दोनों एक हैं?

उत्तर—सुख वह होता है जब प्राकृतिक मन किसी विषय के साथ सम्बन्ध उत्पन्न कर के कुछ काल के लिये स्थित होता है और मन के मलिन और स्थिर होने से इस में ब्रह्मानन्द की मध्यम झलक होती है जिस प्रकार मलिन चिमनी के भीतर प्रकाश की झलक दिखलाई देती है। आनन्द वह है जब मन के शुद्ध होने से अथवा मन के न होने से जीवात्मा ब्रह्म से शुद्ध आनन्द गुण को ग्रहण करता है। अतः सुख और आनन्द दोनों भिन्न २ हैं। सुख अनित्य और आनन्द नित्य है।

प्रश्न—जब समाधि में सुषुप्ति और मुक्ति में ब्रह्म का आनन्द प्राप्त होता है तो इन तीनों में क्या भेद है* ?

---

* समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। (सां० ५। ११६।

उत्तर—जब शरीर सहित ज्ञानयुक्त जीव को ब्रह्म का आनन्द मिलता है तो उस दशा का नाम समाधि है। और जब शरीर सहित और ज्ञान रहित जीव को ब्रह्म का आनन्द मिलता है उस दशा का नाम सुषुप्ति है। और जब ज्ञान सहित और शरीर रहित जीव को ब्रह्म का ज्ञान मिलता है उस दशा का नाम मुक्ति है।

प्रश्न—जीव चेतन है तीनों दशाओं में वह आनन्द को ज्ञान से ही जान सकता है परन्तु सुषुप्ति में ज्ञान रहित बतलाया जाता है इस लिये उस समय आनन्द हो नहीं सकता। जब अनान्द प्राप्त न हुआ तो उपरोक्त प्रतिज्ञा ठीक नहीं।

उत्तर—गुणों का ज्ञान दो दशाओं में होता है एक उस समय जब गुण और गुणी दोनों ज्ञात हों। एक उस दशा में जब गुणी तो ज्ञात न हो और गुण का ज्ञान हो अर्थात् जैसे हमारे सन्मुख कस्तूरी रक्खी हुई है उस समय नेत्रों से हम कस्तूरी की नाभि (नाफ़े) को देखते हैं और नासिका से इसकी गन्ध का अनुभव करते हैं। परन्तु जब वही कस्तूरी हिरन की नाभि में होती है तो उस को गन्ध दृष्टिगोचर तो होती परन्तु गन्धवती वस्तु भान नहीं होती इस लिये वह चारों ओर खोज में फिरता है। यद्यपि कस्तूरी उसके भीतर है इसी प्रकार सुषुप्ति दशा में आनन्द का ज्ञान तो होता है परन्तु आनन्द के मूल कारण ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता और समाधि और मोक्ष में दोनों का ज्ञान होता है यही कारण है कि मनुष्य

नित्यप्रति सोने की दशा में ब्रह्म का आनन्द लेते हुये भी उसके अस्तित्व से अनभिज्ञ अथवा अस्वीकार करते हैं उन को जितना प्रेम संसार की तुच्छ वस्तुओं में है उतना ब्रह्म से नहीं होता।

प्रश्न—जहां योगशास्त्रकार ने लिखा है कि जब ज्ञान का अभाव होता है उस मन की वृत्ति को निद्रा कहते हैं* ?

उत्तर—उस स्थान पर योग शास्त्र के रचयिता महर्षि पतंजलि ने बाह्य ज्ञान से रहित होना माना है अर्थात् जब जीव को बाहर के पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता उसका तात्पर्य यह नहीं कि आनन्द का ज्ञान भी नहीं रहता क्योंकि चेतन जीवात्मा ज्ञान रहित कभी किसी दशा में नहीं रहता। बाह्य ज्ञान तो इन्द्रियां द्वारा प्राप्त करता है और भीतरी ज्ञान उस का स्वाभाविक गुण है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि जिस दशा में जीव को बाह्य ज्ञान न हो उस का नाम निद्रा है।

प्रश्न—हम स्वयं जब सो कर उठते हैं तो बहुधा कहते हैं कि आज मैं सुख से सोया मुझे कुछ भी सुध न रही अर्थात् सुध बुध न रहने का वर्णन करना होता है।

उत्तर—यह शब्द ही प्रकट करते हैं कि बाह्य ज्ञान रहित था परन्तु सुख का ज्ञान था क्योंकि बिना सुख का ज्ञान हुये ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं कि सुख से सोया इस कारण

---

* अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा। (यो० द० १। १०।

महर्षि पतंजलि का कहना कि ज्ञान शून्य होना यह भी ठीक है क्योंकि बाह्य ज्ञान रहित होता है और उपनिषदों का यह कहना कि आनन्द होता है यह भी सत्य है।

प्रश्न—सुख का ज्ञान सोने की दशा में नहीं होता किन्तु जागृति में हुआ करता है कि आज अचेत सोया इस कारण वह सोना सुख से सोना था।

उत्तर—सोने की दशा में सुख था उस समय तो इसका ज्ञान नहीं हुआ परन्तु जागने की दशा में सुख नहीं था फिर सुख का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। यदि कोई मनुष्य भोजन करते समय आस्वादन न करे और भोजन के एक घंटे पीछे यह अनुभव करे तो उस को कौन बुद्धिमान स्वीकार कर लेगा? क्योंकि रसास्वादन करने वाली एक रसना इन्द्रिय है और इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से ही अनुभव होता है बिना सम्बन्ध के अनुभव हो ही नहीं सकता इस कारण सुख का ज्ञान तो सोने की दशा में ही होता है। दूसरे को जागने की अवस्था में कहता है इस कारण आन्तरिक आनन्द आत्मा से ही होता है। श्रुति ने जो सत् शब्द कहा है वह आत्मा के ही लिये कहा है। यह प्रत्येक मनुष्य को ध्यान में रखना योग्य है कि सांख्यदर्शन उपादान कारण वादी है और वेदान्तदर्शन निमित्त कारण को मानता है इस लिये दोनों में भेद नहीं है जो हेतु दूसरे शास्त्रों का निराकरण परक प्रतीत होती हैं वह केवल विषय के भिन्न होने के कारण ज्ञात होती हैं इस पर यह हेतु है :—

गति सामान्यात् ॥१०॥

पदार्थ—'गति' ज्ञान और गमन। 'सामान्यात्' एक होने से।

अन्वयार्थ—यतः वेदान्त शास्त्र के समस्त ग्रन्थों में निमित्तकारण का विवाद है इस कारण सब स्थानों में आत्मा ही को कारण बतलाया है यदि वेदान्त शास्त्र किसी दूसरे कारणों पर वाद करता तो प्रकृति इत्यादि को कारण मानता। जिस प्रकार उपनिषदों में लिखा है कि इस आत्मा❀ से ही आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी इत्यादि तो यहां इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि आकाश और वायु आदि का उपादान कारण ब्रह्म है किन्तु निमित्त कारण ब्रह्म है।

प्रश्न समस्त विद्वान् तो ब्रह्म ही को सब का कारण मानते हैं आप केवल निमित्त कारण को मानते हैं। इस में प्रमाण क्या है ? कि आप का कथन सत्य है।

उत्तर—प्रत्येक आचार्य को ब्रह्म के निमित्त कारण होने पर जो आपत्ति होती है उन के उत्तर देने के लिये माया का

❀ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। -"अनुवादक"

आश्रय लेना पड़ता है और माया प्रकृति का ही नाम है अतः उपादान कारण माया (प्रकृति) और निमित्त कारण ब्रह्म है। यदि वेदान्त के आचार्य माया को उपादान कारण के लिये ग्रहण न करके किसी प्रकार ब्रह्म से जगत बना देते तो हमें उस को स्वीकार करने में आपत्ति न थी परन्तु यद्यपि अनेक विषयों पर विवाद-विषय बनाने पर भी वेदान्तियों को आक्षेपों के उत्तर देने के अतिरिक्त एक ब्रह्म के छः अनादि मानने पड़े। जिस से स्पष्ट विदित है कि छः शास्त्र मिलकर ही पूर्ण ज्ञान होता है और प्रत्येक शास्त्र एक २ कारण का वर्णन करता है।

प्रश्न—आकाश को दूसरे शास्त्रों ने नित्य माना है वेदान्त ने इस को उत्पत्ति धर्म वाला किस प्रकार बतला दिया ?

उत्तर—आकाश के दो लक्षण हैं एक तो रिक्त-स्थान (अवकाश) दूसरा जिस में गमनागमन का कार्य हो सके। जब तक कि प्रकृति में गति न हो तो गमनागमन होना किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? और जब तक शून्य आकाश में अभ्र की भांति भरा हुआ पदार्थ स्थूल दशा में न आने लगे तब तक रिक्त-स्थान (शून्य) कैसे हो सकता है इस कारण यह दोनों विषय प्रकृति में गति होने से प्रकट हो सकती हैं इस लिये जब तक प्रकृति में गति न हो तब तक आकाश कहला ही नहीं सकता और प्रकृति में गति बिना आत्मा के हो नहीं सकती इस कारण सब की उत्पत्ति का कारण आत्मा है जिस की क्रिया संयोग और वियोग हो कर सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय (नाश) इत्यादि होते हैं इस कारण जगत का

आदि मूल ब्रह्म ही को मानना चाहिये इस पर और हेतु देते हैं:—

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

पदार्थ—'श्रुतत्वात्' श्रुतियों से सुनाना हो। 'च' भी।

अन्वयार्थ—जो भी श्रुतियां जगत कर्त्ता का विचार करती हैं सब की सब ब्रह्म को जगत का कर्त्ता बतलाती हैं। कोई श्रुति प्रकृति को जगत कर्त्ता नहीं बतलाती। जैसे* वेद ने बतलाया कि यह जो कुछ जगत में दिखलाई देता है वह सब पुरुष (ब्रह्म) के ही कारण है जो कुछ व्यतीत हो चुका वह सब ही पुरुष (ब्रह्म) के कारण था। जो कुछ होगा वह सब ही पुरुष के कारण होगा। चाहे प्रकृति उपादान कारण हो परन्तु वह अपने आप परतंत्र होने से कुछ बना नहीं सकती अतः संसार के जितने पदार्थ हैं वह चेतन पुरुष के कारण बनते हैं समस्त समुदाय तो परमात्मा के कारण बनता है और इस में जो कुछ भिन्न पदार्थ दृष्टि में आते

* सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषा दधि। यजु० ३२। २।

हैं वह सब जीवात्मा के कर्मों के कारण हैं । प्रकृति तो केवल इस कर्म को अपनाने वाली है और प्रकृति के कार्य मन आदि गति (क्रिया) के लिये साधन हैं सब की गति का कारण केवल पुरुष अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा है । इस कारण दूसरे सूत्र में तो ब्रह्म के सत् लक्षण को सिद्ध किया । और तीसरे सूत्र से लेकर सूत्र ११ तक नौ सूत्रों में यह विचार किया कि वह ब्रह्म कि जो जगत का कर्त्ता है वह जड़ प्रकृति अथवा उस का कोई कार्य नहीं । अब सत्-चित् ब्रह्म को सिद्ध करके आनन्द सिद्ध करने के लिये नीचे का सूत्र लिखते हैं :—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१२॥

पदार्थ—'आनंदमयः' वह आनंद स्वरूप है । 'अभ्यासात्' समस्त श्रुतियां उस को आनंद स्वरूप बतलाती हैं ।

अन्वयार्थ—यतः समस्त श्रुतियां उस को आनंद स्वरूप बतलाती हैं इस लिये ब्रह्म आनंद स्वरूप है। यहां तक ११ सूत्रों से ब्रह्म को सच्चिदानंद सिद्ध किया है ।

प्रश्न—तैत्तरीय उपनिषद् में पांच कोष लिखे हैं उन में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय क्या यह पांचवां कोष जो आनन्दमय कहलाता है यह ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्म से भिन्न कोई अन्य चेतन है।

उत्तर—यहांआनन्दमय का तात्पर्य जीवात्मा सेहै क्योंकि वह कोषों में मिला हुआ है। यहां आनन्दमय कोष से ब्रह्म नहीं है। किन्तु दूसरा चेतन जीवात्मा से अर्थ है।

प्रश्न—यहां जीवात्मा क्यों लिया जावे? परमात्मा ही अर्थ क्यों न किया जावे?

उत्तर—क्योंकि तैत्तरीयोपनिषद् में आनन्दमय कोष का शरीर आदि बतलाया है और ब्रह्म सब से बड़ा होने से उस का शरीर हो नहीं सकता क्योंकि ब्रह्म का शरीर ब्रह्म से बड़ा निर्विवाद होना चाहिये कि जिस में ब्रह्म रह सके। परन्तु ब्रह्म से कोई बड़ा नहीं कि जो ब्रह्म का शरीर कहलाने के योग्य होसके। अतः यहां आनन्दमय से जीवात्मा ही कथन किया गया है।

प्रश्न—यदि माया (प्रकृति) को ही ब्रह्म का शरीर मान लें तो क्या हानि हो सकती है?

उत्तर—जिस का शरीर होता है तो वह दुख सुख के भाग और इन्द्रियों से रहित नहीं हो सकता। क्यों कि शरीर भोग का स्थान होता है* जिस में भोग के साधन इन्द्रियां

---

* भोगायतन शरीरम्। —"अनुवादक"

काम करती हैं जिस से आत्मा को सुखी दुखी होने का ज्ञान उत्पन्न होता है ब्रह्म यतः भोक्ता नहीं अतः वह शरीर से रहित है। अतः यहां तो आनन्दमय से जीवात्मा ही अर्थ है परन्तु अन्य स्थानों में ब्रह्म के साथ आनन्द का सम्बन्ध होने से ब्रह्म सच्चिदानन्द ही सिद्ध होता है।

प्रश्न—ब्रह्म को आनन्दमय कहने से ब्रह्म विकार वाला हो जावेगा क्योंकि विकार के अर्थों में आजाता है।

उत्तर—

विकार शब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्य्यात् ॥१३॥

पदार्थ—'विकारशब्दात्' मय शब्द के अर्थ विकार के हैं। 'इतिचेत्' यदि ऐसा हो। 'न' नहीं। 'प्राचुर्यात' अधिक भी है।

अन्वयार्थ—ब्रह्म आनंदमय है। यद्यपि मय शब्द का अर्थ विकार का भी हो परंतु आनंदमय कहने से ब्रहम विकार वाला नहीं हो सकता क्योंकि विकार छः प्रकार के हैं जो ब्रह्म में नहीं घट सकते। अतः मय शब्द का अर्थ अधिक है इस लिये आनंदमय का अर्थ यह है कि ब्रह्म में अधिक आनंद है।

प्रश्न—विकार छः प्रकार के जो बतलाये हैं वह कौन से हैं?

उत्तर—उत्पन्न होना बढ़ना, एक सीमातक बढ़ कर रुक जाना, रूपान्तर होना, घटना और नष्ट हो जाना। यतः जो वस्तु उत्पन्न होती है उस में ही विकार होता है और ब्रह्म उत्पत्तिवान नहीं इस कारण ब्रह्मको आनन्दमय कहने से इस स्थान पर मय का अर्थ विकार नहीं लेना होगा किन्तु अधिकता ही लेना होगा।

प्रश्न—यदि ब्रह्म में विकार मान लें तो क्या हानि है?

उत्तर—इस दशा में ब्रह्म का कोई कारण स्वीकार करना पड़ेगा। जो नहीं होता। क्योंकि कारण के बिना विकार नहीं हो सकता। जितने नित्य पदार्थ हैं उन में विकार नहीं होता। इस लिये ब्रह्म के अनादि और जगत का कारण होने से "मई" का अर्थ अधिकता लेना ही उचित है इस पर यह हेतु दिया जाता है कि इस का अर्थ आनन्द की अधिकता ही क्यों लिया जावे? विकार क्यों न लिया जावे?

तद्धेतु व्यपदेशाच्च ॥१४॥

पदार्थ—'तत्' इस का। 'हेतु' कारण। 'व्यपदेशाच्च' बतलाया जाने से।

अन्वयार्थ—यतः जिस किसी को आनंद प्राप्त होता है वह सब ब्रह्म के ही कारण मिलता है यह उपदेश सब वेद और उपनिषद् तथा शास्त्रों में बतलाया गया है अतः जिस के पास अधिक आनंद हो

वही दूसरों को आनंद देने का कारण हो सकता है जैसे संसार में जिस के पास अपने पेट से अधिक अन्न होता है वही दूसरों को अन्न दान कर सकता है और अन्न की क्षुधा दूर कर सकता है इस कारण आनंद का हेतु ब्रह्म है। समाधि और सुषुप्ति में एवं मुक्ति में जीव ब्रह्म के कारण ही आनंद को प्राप्त करता है इस लिये अधिक आनंद वाला होने से ब्रह्म आनंदमय (मई) कहला सकता है। इस पर और हेतु दिया जाता है।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

पदार्थ—'मान्त्रवर्णिकम्' वेद मंत्रों में। 'एव च' ही। 'गीयते' गान किया बतलाया गया है।

अन्वयार्थ—वेद मंत्रों में भी बतलाया गया है कि ब्रह्म बड़ा आनंद वाला है* जैसे बतलाया है कि ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म आनंद को प्राप्त होता है। ब्रह्म सच्चिदानंद है इस प्रकार अनेक अवसरों पर ब्रह्म को परमानंद वाला बतलाया गया है अतः

---

* यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति। स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व १०।८।१)

समस्त उपनिषद् ब्राह्मणों और वेदों में कोई ऐसा स्थान नहीं जहां जीव को आनंदमई बतलाया गया हो। किन्तु ब्रह्म ही आनंद स्वरूप है जीव इस से आनंद को प्राप्त करता है। जैसे अग्नि स्वरूप से उष्ण है हम इस से उष्णता ग्रहण करते हैं।

प्रश्न—ब्रह्म के आनन्द स्वरूप होने में जितने उदाहरण उपस्थित किये गये हैं वह सब ब्राह्मण ग्रन्थों के हैं। सूत्र में इन को मंत्र क्यों लिखा है ?

उत्तर—यतः ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं। यदि व्याख्यान मूल के विरुद्ध न हो तो उस में भेद नहीं समझा जाता। इस कारण मंत्र के स्थान में ब्राह्मण ग्रन्थों के उदाहरण दिये गये जिस अंश में ब्राह्मण वेद के विरुद्ध होंगे, वहां उस को वेद से भिन्न समझ लिया जावेगा। यहां तक सूत्रकार ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द सिद्ध किया अब वादी पूर्वपक्ष करता है ?

प्रश्न—जीव को आनन्दमई क्यों न समझा जावे ?

उत्तर—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

पदार्थ—'न' नहीं। 'इतरः' जीवानंदमई। 'अनुपपत्तेः' युक्तियों से सिद्ध न होने से।

अन्वयार्थ—जीव आनंद स्वरूप नहीं क्योंकि हेतुओं से वह सिद्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न—जीव को आनन्द स्वरूप मानने से सब शास्त्र वेद और मोक्ष के साधन व्यर्थ हो जावेंगे। क्योंकि इस दशा में जीव बन्धन से रहित होगा फिर किस के छुड़ाने के लिये शास्त्र बनाये जावेंगे और आनन्द स्वरूप में अविद्या आ नहीं सकती।

प्रश्न—सब वेदान्ती तो यह मानते हैं कि जीव आनन्द स्वरूप है आप कहते हैं कि हो ही नहीं* सकता?

उत्तर—हम क्या कहते हैं वेदान्त के आचार्य व्यास जी कह रहे हैं कि जीव का आनन्द स्वरूप होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि आनन्द स्वरूप है तो वह किसी दशा में दुख का अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि जिस प्रकार अग्नि उष्ण है वह शीतल नहीं हो सकती जब कि जीव दुखी नहीं तो मुक्ति की आवश्यकता ही क्या? क्योंकि मोक्ष उसे कहते हैं कि जब कि अत्यन्त दुख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति हो। जीव के आनन्द स्वरूप होने से दुख उसे हो नहीं सकता और आनन्द उसे प्राप्त ही है। अतएव जीव मुक्ति स्वरूप है ऐसी दशा में तो मोक्ष के लिये जो शास्त्र बनाये गये सब व्यर्थ हैं।

---

* "आनन्दमयोऽभ्यासात्" सूत्र तैत्तरीयोपनिषद् के "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"। के आधार पर है। -"अनुवादक"

प्रश्न—यथार्थ में जीव आनन्द स्वरूप है परन्तु अविद्या के आवरण के आजाने से वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि आनन्द और जीव के मध्य में आवरण आगया है।

उत्तर—आवरण दो द्रव्यों के बीच तीसरे द्रव्य का आया करता है आनन्द गुण है। गुण और गुणी के बीच में आवरण नहीं आया करता इस के लिये कोई अन्य उदाहरण देने में नहीं मिल सकता। कि जिस स्थान पर गुण और गुणी के बीच में आवरण आया हो क्योंकि गुण और गुणी के बीच में दूरी नहीं कि जिस में आवरण रह सके यदि गुण और गुणी के बीच में दूरी होती तो इन का नित्य सम्बन्ध न होता अर्थात् गुण और गुणी में भी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

प्रश्न—क्या जीव को आनन्द स्वरूप मानने वाले निश्चल दास आदि विद्वान् भूल कर सकते हैं अथवा आप का कहना मिथ्या है? हम तो मानते हैं कि आप ही भूल करते हैं।

उत्तर—वेदान्त दर्शन का मूल करता महर्षि व्यास-देव जी जब मानते हैं कि जीव आनन्दस्वरूप सिद्ध नहीं होता और युक्ति से भी इस का खण्डन होता है निश्चल दास आदि के लिखने से किस प्रकार जीवात्मा आनन्द स्वरूप बन सकता है।

प्रश्न—क्या श्रीशङ्कराचार्य जी आदि ने अपने भाष्य में इसे माना है?

उत्तर—स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि "न जीव आनन्दमयशब्देनानि" अर्थात् जीव आनन्दमय शब्द से नहीं

कहा जाना क्योंकि युक्तियों से सिद्ध नहीं हो सकता। जो मनुष्य वेदान्त का अर्थ अभेदवाद में लगाते हैं उन को इन सूत्रों को विचार कर स्वाध्याय करना चाहिये।

प्रश्न – क्या जीव ब्रह्म का भेद है? जो ब्रह्म को आनन्दमय और जीव को आनन्दमई न कहा जावे?

उत्तर – भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

पदार्थ—'भेद' भिन्नता का। 'व्यपदेशात्' उपदेश होने से, 'च' भी।

अन्वयार्थ—श्रुतियों और वेद मंत्रों ने जीव ब्रह्म का भेद बतलाया है। क्योंकि जीव बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार के ज्ञान रखता है और ब्रह्म स्वाभाविक ज्ञान वाला है। दूसरे ब्रह्म स्वभाव से कर्त्ता और जीव इच्छा से कर्त्ता है। ब्रह्म के सब कार्य समान होते हैं जीव के काम नियम पूर्वक होते हैं।

प्रश्न– क्या जीव नियम पूर्वक काम नहीं कर सकता?

उत्तर—नियम पूर्वक काम कर सकता है परन्तु इस के बल हीन और अल्पज्ञ होने वाला होने से इस के नियम समान नहीं रह सकते। जीवों ने घड़ी बनाई। दस घड़ियां लो—प्रत्येक का समय न्यूनाधिक हो सकता है। रेल वालों ने समय नियत किये बहुधा गाड़ियाँ देर से आती हैं परस्पर

टकरा जाती हैं मनुष्यों के नियम अटल नहीं परमात्मा के नियम अटल हैं परमात्मा ने सूर्य और चन्द्रमा का भ्रमण जिस नियम पर नियत कीता है सदैव उस पर निर्भर है। अतः ज्योतिष के द्वारा दश शहस्त्र वर्षों में होने वाले ग्रहण इत्यादि का पता लगा सकते हैं। अतएव जीव ब्रह्म का भेद वेद शास्त्र और युक्तियों से सिद्ध है।

प्रश्न—क्या जिन मनुष्यों ने जीव ब्रह्म का अभेद बतलाया है वह भूल करते हैं ?

उत्तर—यथार्थ में तो जीव ब्रह्म का अभेद बतलाने वालों का तात्पर्य यह था कि जीव से ब्रह्म दूर नहीं जैसा कि बहुधा मनुष्य चौथे आकाश, सातवें आकाश, वैकुण्ठ क्षीर सागर, गोलोक इत्यादि में ब्रह्म को मानते हैं और अपने से दूर और परिमित (इयत्तावान) जान कर ब्रह्म से जीव तक समाचार लाने के लिये देव दूत (पैगम्बर) जिब्राईलादि और देवताओं की कल्पना करते हैं इस का खण्डन करना था परन्तु अविद्वानों और स्वार्थियों ने इस को विपरीत समझ लिया। अभेद से तात्पर्य दूरी का अभाव था। इस के ज्ञान के साधनों में भिन्नता का न होना अथवा इन का साथ एक साथ होना ! क्योंकि जीव में ब्रह्म के होने से जीव से ब्रह्म दूर नहीं शुद्ध मन ही से जीव और ब्रह्म का ज्ञान होता है इस लिये दोनों के जानने का साधन एक है जिस प्रकार आँख और आँखों का अंजन (काजल) दोनों दर्पण द्वारा देखे जाते हैं इन के जानने के साधनों में भेद नहीं। तीसरे आँखों और आँखों के काजल का ज्ञान भी एक साथ ही होता है इन

कारणों से जीव ब्रह्म में अभेद बतलाया है दोनों के स्वरूप में भेद तो समस्त श्रुतियाँ और युक्तियों द्वारा वर्णन किया गया है :—

कामाच्चनानुमानपेक्षा ॥१८॥

पदार्थ—'कामात्' इच्छा के होने से। 'च' भी। 'न' नहीं। 'अनुमानोपेक्षा' अनुमान की आवश्यकता से।

अन्वयार्थ—यतः जीव को आनंद की कामना है। इच्छा उस वस्तु की होती है जो लाभदायक और अप्राप्त हो। इस लिये इस अनुमान की आवश्यकता ही नहीं कि जीव आनंद स्वरूप है। यदि आनंद अलभ्यवस्तु न हो तो उस की इच्छा किस प्रकार हो सकती। यह निर्विवाद मंतव्य है कि हानि कारक और प्राप्त से घृणा होती है और अलभ्य (अप्राप्त) उपयोगी की आकांक्षा होती है।

प्रश्न—यह कथन कि उपयोगी (लाभ दायक) और अप्राप्त की इच्छा होती है ठीक नहीं। क्योंकि इस पर विवाद की आवश्यकता है बहुधा विद्वानों की यह सम्मति है कि प्राप्त को भी भूल जाने पर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा होती है जिस प्रकार ब्रह्म प्रत्येक जीवों के समीप है परन्तु न

जानने के कारण जीव उस को प्राप्त करने की वांछा (इच्छा) रखता है।

उत्तर—प्राप्ति भिन्न २ प्रकार से होती है। कर्मेन्द्रियों के जो विषय हैं उन को पकड़ने से और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को जानने से जड़ वस्तुओं में संयोग से। अब जीवात्मा चेतन है इस को केवल ज्ञान से प्राप्ति होती है। जब जीवात्मा ब्रह्म को नहीं जानता तब इस को ब्रह्म की अप्राप्ति होती है और वह जानने की इच्छा करता है इस लिये आकांक्षा अप्राप्ति और लाभदायक पदार्थों की ही हुआ करती है।

प्रश्न—बहुधा अपना कंकण जो हाथ ही में होता है परन्तु उसे भूलकर उस की खोज करते हैं इसी प्रकार जीवात्मा में आनन्द है परन्तु भूल से वह इस की खोज करता है?

उत्तर—हम पूर्व ही बतला चुके हैं कि चेतन जीवात्मा को प्राप्ति केवल ज्ञान से होती है जब भूल होगी तब ज्ञान न रहा इस लिये अप्राप्त ही की इच्छा हुई।

प्रश्न—आकांक्षा उस वस्तु की होती है जिस को पूर्व जाना हुआ हो क्योंकि उपयोगी ज्ञान के पश्चात् ही इच्छा हो सकती है क्या जीव ने कभी ब्रह्म को जाना हुआ है?

उत्तर—हम पहिले बतला चुके हैं कि जीवने ब्रह्म को जाना हुआ है उस से अनेक बार आनन्द प्राप्त कर चुका है इसी कारण इस को आनन्द की इच्छा है।

प्रश्न—अन्य आचार्य तो इस का यह अर्थ करते हैं कि कामना करने वाला ब्रह्म है। प्रकृति को जगत का कारण होने का अनुमान करना ठीक नहीं।

उत्तर—एक ओर ब्रह्म को स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया वाला बतलाया जाता है दूसरी ओर इस में कामना मान कर कामना वाला बतलाया जाता है परन्तु स्वाभाविक कर्त्ता और नैमित्तिक कर्त्ता दोनों एक ही साथ नहीं मान सकते। इस लिये यहां प्रकृति के अनुकूल जीव की आनन्द कामना ही स्वीकार करनी चाहिये इस पर और युक्ति देते हैं कि जीव आनन्द मय नहीं।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१६॥

पदार्थ—'अस्मिन्' इस प्रकृति में नहीं। 'न' उस का। 'अस्य' और। 'तद्योगं' उस का योग अथवा मिलाप। 'शास्ति' बतलाया गया है।

अन्वयार्थ—इस प्रकृति और जीव में आनन्द मय शब्द का अर्थ नहीं। किन्तु यह केवल ब्रह्म ही में हो सकता है। क्योंकि यदि प्रकृति और जीव आनंद स्वरूप होते तो संसार में कोई जीव आनंद से रहित न होता। इस लिये बंधन और मुक्ति की व्यवस्था ही न रहती। इस कारण मोक्ष के लिये ब्रह्म का ही योग बतलाया है और प्रकृति की उपासना से बंधन का उपदेश किया है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म में अधिक आनन्द स्वीकार करोगे तो उस में दुखी भी मानना पड़ेगा क्योंकि अधिकता का शब्द विना उस के विरोधी शब्द के आ नहीं सकता उस समय यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्रह्म में आनन्द अधिक और दुख कम है इस लिये जीव को ही आनन्द मय मानना चाहिये।

उत्तर—बतलाया गया है कि जिस में आनन्द के अतिरिक्त दुख नहीं। दुख को न तो इन्द्रियों द्वारा जानता है और न वेदों के उपदेश से ब्रह्म के भीतर दुख सुना जाता है और न युक्तियों से ब्रह्म में दुख का ज्ञान होता है इस लिये ब्रह्म "भूमा"* है और इस में दुख का लेश मात्र भी नहीं है। आनन्द के आधिक्य से तात्पर्य आनन्द स्वरूप का है जिस प्रकार अग्नि में ऊष्मा की अधिकता है उस में शीतलता कभी आ ही नहीं सकती इसी प्रकार ब्रह्म में दुख नहीं आ सकता।

प्रश्न—ब्रह्म में दुख क्यों नहीं आ सकता ?

उत्तर—दुख परतंत्रता है जो आवश्यकता के होने से होती है और आवश्यकता उपयोगी और अप्राप्त वस्तु की होती है ब्रह्म के लिये न तो कोई पदार्थ लाभदायक हैं और न अप्राप्त ही हैं। क्योंकि उपयोगी वस्तु दो प्रकार की होती है एक तो वह जो बुराई को दूर करे दूसरी जो न्यूनता की पूर्ति करे। ब्रह्म में न तो बुराई है और न न्यूनता ही है इस लिये ब्रह्म के लिये कोई वस्तु अथवा पदार्थ उपयोगी नहीं इसी

---

* यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छा० ७। २२। १) "अनुवादक"

प्रकार अप्राप्त भी नहीं हैं। दुरी तीन प्रकार से होती है एक देश से और दूसरी काल से और तीसरी ज्ञान से कही जाती है ब्रह्म के सर्व व्यापक होने से कोई वस्तु देश के विचार से उस से दूर नहीं हो सकती। सर्वज्ञ होने से कोई वस्तु ऐसी नहीं कि जिस को ब्रह्म न जानता हो। अतः न तो ब्रह्म में इच्छा और न उस में प्रतिरोध फिर दुख किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है अतः ब्रह्म ही आनन्द स्वरूप है जीव ब्रह्म के भेद और ब्रह्म के आनन्दमय होने में और युक्ति देते हैं :—

अन्तः तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

पदार्थ—'अन्तः' भीतर से। 'तत्' वह। 'धर्मोपदेशात्' वेदोपदेश से अथवा उस का धर्म कहे जाने से।

अन्वार्थ—ब्रह्म जीव के भीतर है क्योंकि श्रुति उस का उपदेश करती हैं कि जो आत्मा में रहता है❀ और जो उस आत्मा से भिन्न है जिस को यह जीवात्मा नहीं जानता। जिस का यह जीवात्मा शरीर है जिस प्रकार शरीर के भीतर जीव रहता है इसी प्रकार जीव के भीतर ब्रह्म रहता है जो जीवात्मा से भिन्न और उस के कर्मों का साक्षी अथवा देखने वाला है वह आत्मा तेरा अन्तर्यामी है

❀ य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
"अनुवाद"

इस श्रुति को देख कर किसी मूर्ख को यह सन्देह रह सकता है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है स्पष्ट अक्षरों में जीव और ब्रह्म का भेद ही प्रकट करता है और भी अनेक दशाओं में बतलाया गया है कि जीवात्मा के भीतर परमात्मा है जिस प्रकार आंखों में काजल है परन्तु दृष्टिगोचर नहीं होता इसी प्रकार जीव के भीतर ब्रह्म है परन्तु जीव उस को नहीं जानता ।

प्रश्न—और मनुष्य तो इस स्थान पर छान्दोग्योपनिषद् की श्रुतियों के प्रमाण देते हैं आप ने यह शतपथ ब्राह्मण की श्रुति कही है ।

उत्तर—यतः यह श्रुति किसी भांति भी अद्वैत वाद में नहीं लगाई जा सकती इस कारण अद्वैत वादियों ने इस श्रुति को नहीं कहा वह श्रुतियां उपस्थित कीं कि जिन को वह अद्वैत वाद के मार्ग में रुकावट नहीं समझते थे। परन्तु यहां पर जीव और ब्रह्म का भेद सूत्रकार दिखला रहे हैं। इस लिये यही श्रुति यहां के लिये उपयुक्त है। और सूत्रकार इसी श्रुति को लक्ष्य करके लिखते हैं यहां तक कि इस श्रुति को अद्वैत वाद के मार्ग में रुकावट समझ कर अलग कर दिया है।

प्रश्न—क्या यह श्रुति बृहदारण्यक उपनिषद् में नहीं।

उत्तर—यह श्रुति शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड में है बृहदारण्यक में वहां की सब श्रुतियाँ हैं केवल इसी श्रुति को ही हटा दिया है।

प्रश्न—क्या श्री शङ्कराचार्य्य जी ने जो अद्वैत वादियों के शिरोमणि थे उन्होंने इस श्रुति को हटा दिया है ?

उत्तर—श्री शङ्कराचार्य्य जी जैसे वैराग्यवान धर्मात्मा का यह कार्य नहीं। किन्तु श्री शङ्कराचार्य्य जी की पुस्तकों में तो स्पष्ट रूप से द्वैत वाद भी झलकता है किन्तु उन के पश्चात् के पंडितों ने कि जिन्हों ने उपनिषदों को प्रकाशित किया इस श्रुति को निकाल दिया।

प्रश्न—इस का आप के पास क्या प्रमाण है! कि यह श्रुति श्रीशङ्कराचार्य्य जी ने नहीं हटाई किन्तु पीछे के विद्वानों ने उसे हटा दिया।

उत्तर—क्योंकि श्रीशङ्कराचार्य्य जी के ब्रह्म सूत्रों के भाष्य पर टीका करते हुये "भामती" के लेखक श्री वाचस्पति मिश्र ने इस श्रुति को लिखा है इस से सिद्ध है कि वह पीछे हटाई गई है पहिले नहीं।

प्रश्न—क्या जीव से ब्रह्म भिन्न है इन दिनों तो लोग जीव और ब्रह्म को एक ही जानते हैं।

उत्तर—भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१

पदार्थ—'भेदव्यपदेशात्' श्रुतियों में जीव ब्रह्म

का भेद बतलाया जाने । 'च' से । 'अन्यः' जीव से ब्रह्म भिन्न पदार्थ है।

अन्वयार्थ—शरीर का भी अर्थ जीवों से भिन्न ब्रह्म है। जो सम्पूर्ण जीवों का अन्तर्यामी है। सूर्य आदि सब पिण्डों का अन्तर्यामी अर्थात् इन को नियमानुकूल चलाने वाला है। अग्नि आदि पांच भूतों का अन्तर्यामी अर्थात् इन को गति देने वाला है। अतः जीव और प्रकृति से ब्रह्म भिन्न है।

प्रश्न—क्या श्री शङ्कराचार्य्य जी ने इस सूत्र को जीव ब्रह्म के भेद में लगाया है?

उत्तर—श्री शङ्कराचार्य्य जी स्पष्ट शब्दों में इस सूत्र के अर्थ में जीव *और ब्रह्म का भेद मानते हैं जिस को कोई अभेद में नहीं लगा सकता।

प्रश्न—वह कौन से मंत्र और श्रुतियां हैं जिन में जीव ब्रह्म को भिन्न बतलाया है?

---

* यत् सर्वज्ञं सर्वशक्तिब्रह्मनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकं अन्यत् तद्वयं जगतः स्रष्टारः न तस्मिन् हिता करणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते,...... न तु तं (शरीरं) वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः कुत एतत्? भेद निर्देशात्।

--शङ्करभाष्य -"अनुवादक"

यथा जपाकुसुमसन्निधिवशात् स्फटिके रक्तत्वमध्यस्तं तथा अन्तःकरण, सन्निधिवशात्कर्तृत्वं आत्मन्यध्यस्यते। भारती तीर्थादिकों ने पीछे उपाधि भेद से एक मान लिया है।

उत्तर—*ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ मंत्र २० जो जीव और ब्रह्म दोनों चेतन अर्थात् एक दूसरे के भीतर रहने से मिले हुये अर्थात् जीव में ब्रह्म और ब्रह्म में जीव दोनों मित्र हैं अर्थात् दोनों में मिलाप है। दोनों अपने जैसे अनादि वृत्त प्रकृति के कार्य संसार में रहते हैं जीव इसके फलों को भोक्ता है और ब्रह्म सदा साक्षी के समान देखता है परन्तु भोक्ता नहीं। इस मंत्र से तीनों का अनादि और भिन्न २ होना स्पष्ट प्रकट है। दूसरे देखो श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय ४ मंत्र ५ प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों जन्म से रहित हैं इन में प्रकृति जगत् का उपादान कारण है और ब्रह्म निमित्त कारण है जो इस के फलों का भोक्ता नहीं। जीव इस के फलों का भोक्ता है।

प्रश्न—जब वेद, उपनिषद् और वेदान्त दर्शन सब ही जीव ब्रह्म का भेद मानते हैं और युक्ति से भी जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। श्री शङ्कराचार्य्य जी ने भी भेद ही बतलाया है तो लोगों ने अभेद कहां से निकाल लिया?

उत्तर—प्राचीन ऋषियों के अर्थ को न समझने से इन नासमझों ने ब्रह्म में अविद्या का प्रवेश किया है। किसी ने यह न सोचा कि कहीं सूर्य में भी अन्धकार हो सकता है यदि सूर्य में अन्धकार हो तो इस को कौन दूर करे। यदि ज्ञान स्वरूप सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या अर्थात् विपरीत ज्ञान आजावे तो उसे दूर करने वाला कहां से आवेगा? न तो

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ -"अनुवादक"

अविद्या ब्रह्म में आसकती है न प्रकृति में केवल अल्पज्ञ जीवात्मा ही अविद्या का स्थान है।

प्रश्न—छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि आकाश से जगत उत्पन्न हुआ।

उत्तर—**आकाशः तल्लिङ्गात् ॥२२॥**

पदार्थ—'आकाशः' आकाश ब्रह्म का नाम है। 'तत्' उस का। 'लिङ्गात्' चिह्न होने से।

अन्वयार्थ—छान्दोग्योपनिषद् में जहाँ आकाश शब्द से जगत को उत्पत्ति कही गई है वहाँ आकाश ब्रह्म का पर्य्यायवाची है क्योंकि वहाँ बतलाया गया है कि सम्पूर्ण भूत आकाश से उत्पन्न हुये—जब सब भूत आकाश से उत्पन्न हुये तो आकाश भी एक भूत है इस कारण वह भी जन्य है अतः यहाँ आकाश शब्द ब्रह्म ही का नाम है।

प्रश्न—जब आकाश से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति लिखी है तो छान्दोग्य में आकाश का अर्थ भूत आकाश क्यों न लिया जावे क्योंकि भूताकाश प्रसिद्ध है। यद्यपि ब्रह्म का नाम भी "भूः" इत्यादि गुणों के होने से आकाश हो लेकिन प्रसिद्ध भूताकाश को छोड़ कर दूसरा भाव लेना उचित नहीं।

उत्तर—यतः अन्य स्थानों में श्रुतियों ने स्पष्ट अक्षरों में बतलाया है कि ब्रह्म से ही सब भूतों की उत्पत्ति हुई। जिस से स्पष्ट है कि भूतों की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है। इस कारण वहां आकाश से उत्पत्ति मानी गई है और ब्रह्म का लक्षण ही यह है कि जिस से सब भूतों की उत्पत्ति हो अतः वहां आकाश शब्द से ब्रह्म ही लेना चाहिये क्योंकि इस में ब्रह्म का लक्षण उत्पन्न करने वाला होना पाया जाता है और जहां आकाश से उत्पत्ति कही गई है वहां आकाश की भी उत्पत्ति आत्मा से बतलाई है जिस का स्पष्ट अर्थ यह है कि आकाश में स्वाभाविक गति देने की शक्ति नहीं। जिस प्रकार ऐंजिन से एक गाड़ी को गति होतीहै वह दूसरी गाड़ी को गति देती है वह तीसरे को। यद्यपि इस स्थान पर गाड़ी को गाड़ी गमनशील करती हुये दिखलाई देती है परन्तु यथार्थ गति (क्रिया) ऐंजिन की है अतः उत्पत्ति आत्मा का लिङ्ग होने से ब्रह्म ही आकाश शब्द से लेना चाहिये। केवल चेतन ब्रह्म के सिवाय जगत कर्त्ता कोई हो नहीं सकता।

प्रश्न—अनेक स्थानों में प्राणों से जगत की उत्पत्ति लिखी है।

उत्तर— **अत एव प्राणः ॥२३॥**

पदार्थ—'अतः' इस लिये। 'एव' भी। 'प्राणः' प्राण ब्रह्म का नाम है❀।

❀ स उ प्राणस्य प्राणः-वह प्राणों का प्राण है। —"अनुवादक"

अन्वयार्थ—यतः सृष्टिकर्त्ता होना ब्रह्म का लिंग है अत एव जहां प्राणों को सृष्टिकर्त्ता बतलाया है वहां पर प्राणों से ब्रह्म ही अर्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—ब्रह्म का नाम प्राण किस प्रकार हो सकता है हमने कहीं सुना भी नहीं ?

उत्तर—केनोपनिषद् में बतलाया गया है कि वह ब्रह्म प्राणों का भी प्राण है क्योंकि जिस प्रकार प्राण जीवों के जीवन का कारण है उसी प्रकार ब्रह्म प्राणों की स्थिति का कारण है क्योंकि अग्नि और वायु के परिमाणुओं के मिलाप से प्राण बनता है यदि ब्रह्म न हो तो मिलाप ही न रहे अतः प्राण भी ब्रह्म का नाम है क्योंकि वह संसार के जीवन का सर्वोत्तम कारण है।

प्रश्न—प्राण जब कि साधारण रीति पर जीवन का कारण है और इसे समस्त प्राणी जानते हैं तो फिर किस प्रकार प्राण ब्रह्म का नाम स्वीकार किया जाता है ?

उत्तर—यतः बहुधा स्थानों में श्रुतियों ने प्राण को ब्रह्म के इक्षिण के अनुकूल उसका प्रयोग किया है जैसा कि लिखा है "कि समस्त प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो कर प्राणों को ही प्राप्त होते हैं। प्राणों से स्थित है और प्राणों से ही उत्पन्न होते हैं"। अब जो भूतादि अग्नि का नाम है परन्तु वह प्राण अग्नि और वायु से उत्पन्न होते हैं। अतएव जहां जीवधारियों के लिये प्राण कारण कहे जा सकते हैं वहां अग्नि आदि के

प्राण कार्य हैं। अतः सब भूतों के उत्पादक प्राण नहीं हो सकते। क्योंकि कोई कार्य न तो अपने कारण की उत्पत्ति का हेतु है और न वह उस के नाश का कारण बतलाया गया है। इस कारण वहां प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही विहित है।

प्रश्न—क्या सम्पूर्ण इन्द्रियों की गति का कारण प्राण नहीं। प्राण ही से सम्पूर्ण इन्द्रियां काम करती हैं फिर भूत शब्द का अर्थ इन्द्रियां लेकर प्राण ही मानने चाहियें?

उत्तर—इन्द्रियां निस्सन्देह प्राणों का कार्य अर्थात् प्राणों के आश्रित चलने वाली हो सकती हैं परन्तु भूत इन्द्रियों के कारण हैं और प्राणों के भी कारण हैं इस लिये भूतों की उत्पत्ति और नाश का कारण प्राण नहीं हो सकते इस लिये प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना चाहिये। क्योंकि जहां एक शब्द भिन्न २ अर्थों में आता हो वहां प्रकरण के अनुसार अर्थ लिया जाता है। अब प्राण का अर्थ वह है कि एक प्राण, वायु और अग्नि से मिले हुये का नाम है और दूसरा ब्रह्म। परन्तु विषय समस्त भूतों की उत्पत्ति के कारण का है और प्राण भूतों से उत्पन्न होते हैं जो किसी भी दशा में भूतों के कारण नहीं हो सकते अतएव प्राणों का वह अर्थ कि जिस से वह भूतों का कारण हो लेना चाहिये वह अर्थ केवल ब्रह्म ही है।

प्रश्न—क्या और किसी वस्तु का अर्थ उपनिषदों में इस प्रकार लिया गया है।

उत्तर—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

पदार्थ—'ज्योतिः' प्रकाश। 'चरणः' का साधने। 'अभिधानात्' बतलाये जाने से।

अन्वयार्थ—अनेक स्थलों पर ज्योति का अर्थ प्रकाश के नाम से भी ब्रह्म बतलाया गया है* जैसे उपनिषदों में लिखा है अब इस सूर्य से परे जो प्रकाश प्रकाशित करता है जो विज्ञानियों के विज्ञान के भीतर और सब में उत्तम तथा नीच लोगों के भीतर अथवा जो उस पुरुष के भीतर ज्योति है क्या यह ज्योति ब्रह्म की है अथवा यह अग्नि, और सूर्य आदि की है? क्योंकि इस स्थान पर ब्रह्म का कोई लिङ्ग प्रकट रूप से विदित नहीं होता जिस से ज्योति शब्द का अर्थ ब्रह्म ही ले सकें परन्तु जीवात्मा के भीतर भौतिक अग्नि अथवा सूर्य की ज्योति जा नहीं सकती इस कारण यहां सूर्य की ज्योति ही अर्थ लेना चाहिये अर्थात् पुरुष के भीतर जो ज्योति है वह ब्रह्म ही का प्रकाश है।

---

* तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः। (मुण्डक)
तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्। (बृहदा०)

प्रश्न—क्या पुरुष के भीतर प्रकृति का प्रकाश नहीं जा सकता।

उत्तर—यह नियम है कि स्थूल के भीतर सूक्ष्म के गुण चले जाते हैं परन्तु सूक्ष्म के भीतर स्थूल के गुण नहीं जा सकते यतः पुरुष प्रकृति से सूक्ष्म है इस कारण प्रकृति के गुण पुरुष में नहीं जा सकते।

प्रश्न—यदि पुरुष में प्रकृति के गुण नहीं जा सकते तो प्रकृति की उपासना से पुरुष को दुख किस प्रकार हो सकता है इस कारण कि दुख स्वरूप प्रकृति है परन्तु वह पुरुष में जा नहीं सकती तथा गुण गुणी का ऐसा सम्बन्ध है कि जहां गुणी जावेगा वहीं गुण जावेगा। बिना गुणी के भीतर गये हुये दुख जो इस का गुण है किस प्रकार जीवात्मा में जा सकता है।

उत्तर—यतः मन प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति से स्थूल है इस कारण प्रकृति का गुण जो दुख है वह मन में जाता है और जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता से मन में अहंकार रखता है इस लिये मन के गुण को अपने में मानता है क्योंकि चेतन का सम्बन्ध अहंकार से ही होता है इस लिये जिस पदार्थ में अहंकर होता है ऐसे की हानि अथवा लाभ जीवात्मा अपने में मानता है।

प्रश्न—क्या जीव को सुख अथवा दुख नहीं होता और क्या वह अपनी मूर्खता से अपने में मानता है?

उत्तर—दुख अथवा सुख तो जीव में औपाधिक गुण होते हैं केवल अल्पज्ञता के कारण जीव अपने में कल्पना कर लेता है आनन्द नैमित्तिक गुण होता है जो जीव के भीतर रहने वाले ब्रह्म से प्राप्त होता है।

प्रश्न—यह किस भांति सम्भव है कि मन को तो दुख हो और जीव इस को अपने में माने ?

उत्तर—यह तो संसार में प्रत्यक्ष है कि जिस पदार्थ में अहंकार होता है इसी के दुख को आत्मा अनभव करता है जैसे किसी का एक घर है और वह जल जावे तो बहुत दुख होता है परन्तु यदि दो घंटे पूर्व जलने के उस घर को यदि वेच दिया जावे तो उस को कोई कष्ट नहीं होता। क्या कारण है कि सहस्त्रों मनुष्य नित्य प्रति मरते हैं परन्तु हम कभी नहीं रोते परन्तु जिस दिन किसी प्यारे मनुष्य की मृत्यु होती है उस दिन बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य रोने लगता है इस लिये सम्पूर्ण शास्त्र कारों ने स्वीकार किया है कि जीवात्मा मन के अनुकूल होता है जैसे मन की वृत्ति होती है उसी प्रकार जीव अपने को जानता है। यदि मन सुखी है तो जीव अपने को सुखी मानता है और यदि मन दुखी है तो जीवात्मा अपने को दुखी समझता है।

प्रश्न—ब्रह्म का नाम ज्योतिः स्वरूप क्यों है ?

उत्तर—संसार में ज्योति दो प्रकार की होती है एक स्वयं प्रकाश दूसरी पर-प्रकाश जब विचार पूर्वक देखा जाता है तो

पहिले दीपक का प्रकाश दिखलाई देता है परन्तु वह प्रकाश सूर्य से उत्पन्न हुआ है इस कारण दीपक स्वतः प्रकाश नहीं किन्तु सूर्य के प्रकाश से उस का प्रकाश हुआ है फिर जीवात्मा सूर्य को स्वतः प्रकाश मानता है तब जब विचारता है कि सूर्य अग्नि के परिमाणुओं के मेल से बना है और अन्धे को सूर्य से भी दिखलाई नहीं देता तब अनुभव करता है कि सूर्य भी स्वतः प्रकाश नहीं। तब चक्षु को स्वः प्रकाश मानता है परन्तु परन्तु विचारने पर मानता है कि यदि मन का चक्षु इन्द्रिय से सम्बन्ध न हो तो वह खुली आंखों से भी नहीं देख सकता तब ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि चक्षु स्वतः प्रकाश नहीं और बिना नेत्रों के भी बहुधा मनुष्य ज्ञानी पाये जाते हैं इस कारण निश्चय हो जाता है कि मन स्वतः प्रकाश है परन्तु जब जीवात्मा सुषुप्ति की दशा में चला जाता है तब मन किसी दशा में भी कुछ अनुभव नहीं करता। इस कारण विचार उत्पन्न होता है कि मन भी स्वतः प्रकाश नहीं किन्तु जीवात्मा स्वतः प्रकाश है कि जिस की शक्ति से मन प्रकाश करता है जब जीवात्मा को देखते हैं कि वह बिना उपकरणों (साधनों) के कुछ नहीं जान सकता और साधन इस की शक्ति में नहीं इस लिये पता चलता है कि जीवात्मा भी स्वतः प्रकाश नहीं किन्तु जो जीव को साधन देकर जानने और करने योग्य बनाता है वह प्रकाश स्वरूप परमात्मा है। अतः शेष पदार्थों में तो ज्योति परमात्मा के देने से आती है और परमात्मा ज्योतिः स्वरूप है अतः पुरुष के भीतर जो ज्योति है वह परमात्मा ही है।

प्रश्न—उपनिषदों में लिखा है कि यह सम्पूर्ण भूत जो कुछ हैं वह सब "गायत्री" ही है क्या इस से "छन्द" जगत का कारण सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—

छन्दोभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पण-निगदात्तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

पदार्थ—'छन्दोऽभिधानात्' गायत्री छन्द का कथन करने से। 'न' नहीं। 'इतिचेत्' यदि ऐसा हो। 'न' दोष नहीं। 'तथा' ऐसे ही। 'चेतोऽर्पण-निगदात्' गायत्री मंत्र से ब्रह्म में एकाग्र करने से। 'तथाहि' ऐसे ही निश्चय से। 'दर्शनम्' अन्यस्थल पर दिखलाया है।

अन्वयार्थ—यतः गायत्री मंत्र में ब्रह्म से प्रर्थना की गई है कि वह हमारी बुद्धि को प्रेरणा करे अर्थात् बुरे काम से हटा कर नेक काम की ओर लगाये अथवा प्रकृति की ओर से हटा कर आत्मा की ओर चलाये अतः गायत्री शब्द भी उपचार से ब्रह्म का ही वाचक है अर्थात् बतलाने वाला मानना चाहिये क्योंकि अचेतन छन्द में जगत के पैदा करने और नाश करने की शक्ति नहीं। जहां प्रलय और उत्पत्ति

का वर्णन आयेगा वहां कर्त्ता ब्रह्म ही को लेना पड़ेगा।

प्रश्न—क्या कारण है कि प्रत्येक स्थलों पर जहां कर्त्ता प्रकट करना हो वहां केवल ब्रह्म ही को लेना चाहिये?

उत्तर—जड़ पदार्थों के भीतर तीन प्रकार की शक्ति अर्थात् करने न करने और विपरीत करने की हो नहीं सकती। अतः जहां जगत् के कर्त्ता का किसी शब्द से वर्णन किया जावे वहां वह शब्द केवल सर्वज्ञ और चेतन और सर्वव्यापक ब्रह्म ही को प्रकट करता है।

प्रश्न—क्या चेतन जीवात्मा कर्त्ता नहीं?

उत्तर—जीवात्मा उपकरणों (साधनों) के विना कुछ नहीं कर सकता। जैसी कि इस की परिभाषा न्याय सिद्धान्त घोषित करते हैं। कि वह समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का अधिकरण है अतः जीवात्मा सृष्टि कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह सृष्टि में से साधनों को लेकर काम कर सकता है जब तक जीवात्मा के पास शरीरेन्द्रिय और मन आदि न हों तब तक वह कुछ काम नहीं कर सकता और जब तक शरीर को कोई न बनावे वह स्वयं बन कर जीवात्मा को करने में सहायता नहीं दे सकता अतएव शरीर हो तो जीव का काम करे और शरीर का बनाने वाला हो तो शरीर बने। इस लिये ब्रह्म के सिवाय और जगत् कर्त्ता कोई नहीं।

प्रश्न—यदि जीव को जगत् बनाने के लिये शरीर की आवश्यकता है तो ब्रह्म को क्यों नहीं?

उत्तर—यतः ब्रह्म सर्वव्यापक है उस से बाहर कोई वस्तु नहीं। और इन्द्रियां बाहर की वस्तुओं को जान सकती हैं और कर्मेन्द्रियां बाहर के पदार्थों को ही ग्रहण कर सकती हैं इस लिये जीवात्मा सान्त होने से इन्द्रयों के बिना काम नहीं कर सकता और परमात्मा अनन्त होने से इन्द्रियों के बिना काम करता है क्योंकि भीतर काम करने के वास्ते किसी इच्छा अथवा उपकरण अर्थात् साधन की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—क्या इस में कोई प्रमाण है कि वेदों और उपनिषदों ने इस प्रकार शब्द और हो और अर्थ और लिया हो।

उत्तर—जिस प्रकार ब्रह्म को वेदों ने चार पाद वाला बतलाया है और उस के एक पाद में सम्पूर्ण जगत् बतलाया है। इसी प्रकार गायत्री मंत्र भी छः २ अक्षरों वाले चार भाग रखता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी संख्या की तुलना से एक शब्द दूसरे शब्दार्थ का वर्णन करता है जिस प्रकार ज्योतिषी लोग चार वेदों के स्थान में वेद ही कह देते हैं क्योंकि ज्योतिष की तिथियों में वेद कोई तिथि नहीं इस लिये वेदों के चार होने से वेद शब्द से चतुर्थी ले लेते हैं। अर्थात् वेद शब्द उन के यहां चार का बोधक है—(अनुवादक)

प्रश्न—क्या वेद ने ब्रह्म को चार पाद अर्थात् भागों में विभक्त किया है यह तो निरा अनर्थ है ?

उत्तर—यजुर्वेद के मन्त्रों में बतलाया है कि ब्रह्म के एक पाद में तो जगत के समस्त भूत हैं और तीन पादों में वह

इस से पृथक् है कि जिस का यह अर्थ है कि मूर्ख लोग अज्ञानता से न समझलें कि ब्रह्म प्रकृति अथवा जगत के समान है किन्तु वह इस से बाहर है।

प्रश्न—यह बुद्धि किस प्रकार मान सकती है कि ब्रह्म जगत के बाहर भी है।

उत्तर—जगत का कारण प्रकृति केवल सत् है और ब्रह्म के भीतर तीन गुण चित्, आनन्द और स्वतंत्रता इस से पृथक् हैं अतः ब्रह्म चार पाद वाला है अतः उपनिषद् के इस वाक्य में ब्रह्म ही लिया गया है गायत्री छन्द नहीं लिया गया है।

प्रश्न—यदि गायत्री छन्द में ही पाद होते तो ब्रह्म ही ले सकते परन्तु पाद तो भूतों में भी बतलाये गये हैं?

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

पदार्थ—'भूतादि' पृथ्वी आदि में। 'पादव्यपदेशोपपत्तेः' उपनिषद् में पाद का उपदेश होने के कारण। 'च' से। 'एवम' ऐसे हैं।

अन्वयार्थ—यदि गायत्री मंत्र में पाद (भाग) होने से पृथ्वी आदि भूतों को भी ब्रह्म ही मानना पड़ेगा तब यहां गायत्री छन्द के स्थान में ब्रह्म का

मानना उचित नहीं । क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के ब्रह्म हो जाने से ब्रह्म नहीं रहेगा । परन्तु ब्रह्म को परमात्मा कहने से प्रत्येक पदार्थ में इस की विद्यमानता है इस लिये उपचार से प्रत्येक वस्तु को ब्रह्म कह सकते हैं जैसा कि उपनिषदकार ने लिखा है कि यह सब जगत ब्रह्म है क्योंकि सब इस से उत्पन्न होते हैं और इसी में लय हो जाते हैं ।

प्रश्न—क्या ब्रह्म सब का कारण होने से जगत ब्रह्म हो सकता है ।

उत्तर—जब वेद मंत्र में यह लिखा है कि ब्रह्म का एक पाद सब जगत का भूत है और तीन पाद* अमृत और जगत से बाहर हैं तो इस लिये ब्रह्म की शक्ति को और इस के कार्य को यदि उपचार से ब्रह्म कहें तो कोई दोष नहीं । इस लिये उपरोक्त वाक्य में ब्रह्म को गायत्री शब्द से कहते हैं और कोई दोष नहीं आता । इस का निर्णय सूत्रकार इस प्रकार करते हैं :—

उपदेश भेदान्नेतिचेन्नो भयस्मिन्नप्य विरोधात् ॥ २७॥

---

* एता वानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (ऋग्वेदे)

पदार्थ—'उपदेशभेदात्' उपदेश भिन्न २ होने से। 'न' नहीं। 'इतिचेत्' यदि यह हो। 'न' दोष नहीं। 'उभयस्मिन्' दोनों दशाओं में। 'अपि' भी। 'विरोधात्' विरोध न होने से।

अन्वयार्थ—यतः दोनों स्थलों पर पृथक् २ उपदेश है। इस लिये एक स्थान दूसरे के प्रति भिज्ञा नहीं है। यदि मान भी लिया जावे तो दोनों में विरोध होने से कोई दोष नहीं।

प्रश्न—एक स्थान पर तो "दिवि" को ब्रह्म के तीन पाद का आधार स्वीकार किया है। जहां यह बतलाया है कि एक पाद में तो सम्पूर्ण भूत हैं और शेष पाद 'दिवि में हैं और दूसरे स्थानों में हैं जो इस से परे देव है। यह सीमा के निमित्त बतलाया गया। जब कि दोनों स्थानों पर पृथक् २ विभक्त अर्थात् प्रकट करने वाले चिह्न हैं तब यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि एक ही देव लोक इस का भी आधार हो और उस से परे भी हो।

उत्तर—यतः व्यवहार के भीतर ऐसे अवसरों पर दोनों का प्रयोग देखते हैं इस लिये इन में विरोध नहीं जो कि दोनों न हो सकें जैसे कोई कहता है कि वृक्ष की शाखायों से परे श्येन पक्षी (बाज़) बैठा है दूसरे स्थान पर यह कहें कि वृक्ष की परली शाखा पर श्येन बैठा है इन में विरोध नहीं। केवल

व्यवहार की भाषा का अन्तर है। इस लिये दोनों दशाओंमें अर्थ एक ही निकलता है।

प्रश्न—"द्यौ लोक" किसे कहते हैं* ?

उत्तर—सूर्य से ऊपर जो आकाश है उस को द्यो-लोक कहते हैं।

प्रश्न—जब ब्रह्म के एक पाद (अंश) में सम्पूर्ण भूत आगये तो सूर्य से ऊपर का आकाश भी उस में आ गया। क्याकि आकाश पंच-भूतों में है तब भूतों से प्रथक् "द्यौ लोक" कौन सा रह गया ?

उत्तर—बहुधा विद्वानों के विचार से वाह्य और आभ्यान्तर दो प्रकार का ज्ञान होता है। वह वाह्य ज्ञान भूतों का ज्ञान और उस से परे आभ्यान्तर ज्ञान को "द्यौ लोक" से कथन करते हैं, अर्थात् ब्रह्म को चार पाद वाला कहते हैं। सत, चित्, आनन्द और स्वतंत्रता इन में सत् तो प्रकृति में पाया जाने से एक पाद सम्पूर्ण भूतों में पाया जाता है। परन्तु चेतनता आनन्द और स्वतंत्रता में जो अंशों से ज्ञात नहीं होती वह बुद्धि जानी जाती है इस लिये बुद्धि "द्यौ लोक" है।

प्रश्न—यह किस प्रकार सत्य हो सकता है क्योंकि वहां "द्यौलोक" बतलाया गया है ?

---

* संसार में द्यौलोक का अपभ्रंश "देवलोक" हो गया है।

-"अनुवादक"

उत्तर—सम्भव तो यह है क्योंकि लोक जिस धातु से बना है इसका अर्थ दर्शन है और द्यौ कहते हैं प्रकाश शील वस्तु को। प्रकाश स्वरूप पदार्थ का जहां दर्शन हो उस का नाम "द्यौलोक" है यतः बुद्धि में जीव ब्रह्म का दर्शन होता है इस लिये इसे "द्यौलोक" कहते हैं।

प्रश्न—इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता जहां बुद्धि से जीव ब्रह्म का ज्ञान होता हो ?

उत्तर—केनोपनिषद् में बतलाया गया है कि इस आकाश में *एक स्त्री आई और उसने बतलाया कि यह ब्रह्म है वहां स्त्री का अर्थ बुद्धि ही है। दूसरे अन्य श्रुतियां भी कहती हैं कि वह सूक्ष्म बुद्धि से देखा जाता है इस लिये बुद्धि को द्यौलोक कहना अनुचित नहीं। इस लिये ज्योति शब्द से भी ब्रह्म ही लेना चाहिये।

प्रश्न—कौशीत की ब्राह्मण में इन्द्र और ब्रह्मों की कथा में लिखा है कि इस ने कहा कि मैं "प्रज्ञात्मा प्राण हूं" मैं अमृत हूं। मैं आयु हूँ, तू मेरी उपासना कर इस स्थान पर 'प्राण' शब्द का ब्रह्म के लिये प्रयोग हुआ है अथवा जीव के लिये अथवा प्राण (स्वांस) के लिये ?

उत्तर—**प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥**

---

* स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ता ᳚ होवाच इत्यादि। यहां पर उमा नामक स्त्री का रूप का लङ्कार से वर्णन है। उमा ब्रह्मविद्या को कहते हैं। यह उमा बुद्धि का भी पर्याय है इसी लिये परमेश्वर का नाम उमेश है। उमा+ईशः = उमेशः। —"अनुवादक"

पदार्थ—'प्राणः' प्राण का अर्थ ब्रह्म है। 'तथा' ऐसा ही। 'अनुगमात्' तात्पर्य्य निकालने अथवा निश्चय होने से।

अन्वयार्थ—यद्यपि पूर्व भी कहा जा चुका कि प्राण शब्द ब्रह्म के लिये ही आया है यहां भी प्राण शब्द ब्रह्म के ही लिये प्रयोग किया गया है क्योंकि इस स्थान पर प्राण को आनन्द अजर, अमर, बतलाया गया है। अब प्राण वायु अर्थात् स्वांस तो अमर नहीं। क्योंकि वह अग्नि और वायु से उत्पन्न होते हैं और उत्पत्तिवान पदार्थ नाशवान होते हैं अतः अमर नहीं हो सकते। जीवात्मा व ज्ञानात्मा कहने से ले सकते हैं परन्तु पीछे सिद्ध कर चुके हैं कि जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं। अतः प्राण शब्द का अर्थ ब्रह्म ही लेना ठीक है।

प्रश्न—यतः मुक्त जीव में भी आनन्द होना है इस लिये प्राण शब्द का अर्थ जीव लेना चाहिये क्योंकि इन्द्र आदि जीव है।

उत्तर—यद्यपि उस अवसर पर ऐसे शब्द हैं कि जिन से जीव और प्राण भी लिये जासकते हैं, परन्तु सम्पूर्ण विषय की संगति मिलाने से उस का अर्थ ब्रह्म ही निकलता है, क्योंकि

इन्द्र ने प्रश्नों से कहा है कि मुझ से वर मांग अर्थात् जो तेरी इच्छा वह मुझ पर प्रकट कर । इस के उत्तर में वह कहता है कि "जो मेरे लिये सब से उत्तम और लाभदायक हो" इस लिये सब से उत्तम और लाभ दायक ब्रह्म ही है क्योंकि उसे वेद ने बतलाया है कि उस ब्रह्म को जानने से मोक्ष होती है मुक्ति के लिये सिवाय ब्रह्म के जानने के दूसरा मार्ग नहीं। दूसरे कहा है कि जो मुझ को जानता है उसे कोई कर्म भी नहीं लगता। यह भी ब्रह्म के ही जानने पर हो सकता है। इसी प्रकार अन्य और भी शब्द हैं कि जिन से विश्वास हो जाता है कि ऐसे स्थान पर प्राण शब्द से ब्रह्म का ही अर्थ है।

प्रश्न—यतः इन्द्र कहता है कि मुझ को जान, इस लिये प्राण का अर्थ ब्रह्म करना ठीक नहीं।

उत्तर—**नवक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्म-सम्बन्धभूमाह्यस्मिन्** ॥ २९ ॥

पदार्थ—'नवक्तुरात्मोपदेशात्' कहने वाले के अपने उपदेश करने से। 'इतिचेत्' यदि ऐसा माना जावे। 'अध्यात्मसम्बन्ध' आत्मा के भीतर रहने वाला। 'भूमा' परमात्मा है। 'हि' निश्चय करके। 'अस्मिन्' इस स्थान पर अथवा इस विषय में।

अन्वयार्थ—यह कहना कि कथन करने वाले इन्द्र ने इस स्थान पर जानने के लिये अपने आत्मा

का उपदेश किया है इस लिये जीवात्मा अर्थ लेना उचित नहीं। क्योंकि अध्यात्म सम्बन्ध से इन्द्र की आत्मा के भीतर रहने वाला ब्रह्म ही इस स्थान पर अभिप्रेत है। इस लिये भी कि जीवात्मा असंख्य हैं इन में से किसी एक के जानने से मुक्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म एक है उसी के ज्ञान से मोक्ष हो सकती है।

प्रश्न—जब कि इन्द्र स्पष्ट अक्षरों में कहता है कि तू मुझ को ही जान "मैं प्राण हूँ, मैं बुद्धि का आत्मा हूँ' अर्थात् स्वतंत्र कर्ता हूँ इस *अहंकार को देख कर न तो प्राण शब्द का अर्थ यहां प्राण वायु ले सकते हैं और न केवल अहंकार रिक्त ब्रह्म लिया जाता है?

उत्तर—यतः प्रत्येक आचार्य अभेदवाद उपासना के नियम पर अपने शिष्यों को ऐसा ही उपदेश करते हैं जैसा कि श्रीकृष्ण चन्द्र जी ने गीता में अर्जुन के प्रति उपदेश किया था और भी कतिपय ऋषियों ने भी कहा है इस लिये सब के साथ सम्बन्ध होने से यह आध्यात्मक सम्बन्ध सर्वव्यापक परमात्मा के लिये ही हो सकता है। नहीं तो प्रत्येक जीव की प्रथक् २ मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। और बतलाया यह गया है कि जो सब

* अभिमान अथवा अहङ्कार जीव को अन्य साधनों के भरोसे पर होता है परन्तु यहां पर "अभिमान" अथवा अहङ्कार शब्द मूलवस्तु अथवा तत्त्वार्थ के लिये आया है कि जैसे नेत्र का अभिमानी देव सूर्य है। -"अनुवादक"

से अधिक उपयोगी है कि जिस को सांख्यदर्शन के कर्ता महर्षि कपिल ने सांख्य के भीतर कथन करते हुये भी सिद्ध किया है कि मोक्ष का सुख सब सुखों से अधिक है उपनिषदों में भी ब्रह्मानन्द को सब से अधिक स्वीकार किया गया है। इन्द्र के आनन्द से भी ब्रह्मानन्द करोड़ों गुणा अधिक है। अतः मोक्ष की यही व्यवस्था की गई है कि "बीज सहित दुख का दूर होना और परमानन्द का प्राप्त होना। इस लिये आनन्द की सीमा परमानन्द से आगे नहीं इस लिये जब इन्द्र इस को यह कहता है कि जो सब से अधिक उपयोगी है तब विषय स्पष्ट होजाता है कि मोक्ष अर्थात् परमानन्द को स्वीकार करता है और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति केवल ब्रह्म के जानने से होती है इस लिये ब्रह्म का अर्थ अपने आत्मा अर्थात् जीव के भीतर रहने वाले ब्रह्म से है।

प्रश्न—किसी ने अन्यत्र भी अहङ्कार के साथ ब्रह्म का उपदेश किया है?

उत्तर—**शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥**

पदार्थ—'शास्त्रदृष्ट्या' शास्त्र की दृष्टि। 'तु' पूर्वपक्ष के लिये प्रयोग है। 'उपदेशो' उपदेश किया है। 'वामदेववत्' वामदेव की भांति।

अन्वयार्थ—यतः इन्द्र के भीतर पहिले जन्मों के संस्कार विद्यमान थे यहां उस ने सुना हुआ था कि

ब्रह्म आत्मा के भीतर है इस लिये वह जीव से दूर नहीं जैसे वामदेव ऋषि ने बृहदारण्यक उपनिषद् में अपने आप को ब्रह्म कहा है इसी प्रकार इन्द्र ने भी अभेदोपासना के नियम पर उपरोक्त वचन कहे हैं।

प्रश्न—क्या वामदेव, इन्द्र अथवा श्रीकृष्ण को अपने को ब्रह्म शब्द से व्यवहृत करना उचित था ! क्यों कि बुद्धि में तो यह अविद्या सी ही प्रतीत होती है ?

उत्तर—दो प्रकार से कहना ठीक हो सकता है। एक तो जीव के भीतर ब्रह्म है जिस को मूर्ख लोग न जानने के कारण लगातार संसार में टक्कर मारते हुये ब्रह्म को खोज करते हैं। यदि वह अपने को ब्रह्म जान कर अपने स्वरूप में ब्रह्म की खोज करें तो अवश्य भीतर ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। और बाहर की खोज से मुक्त हो कर भीतर की खोज में लगाने के लिये। दूसरे जब मुक्त जीव अथवा समाधी करने वाला योगी ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करके नैमित्तिक आनन्द से अपने सत् चित् स्वरूप को ब्रह्म अर्थात् कुछ देर के लिये सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त कर सकता है तब इस समय केवल उपचार से यह कह सकता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" परन्तु यथार्थ में इस में ब्रह्म का गुण नैमित्तिक आया होता है इस लिये वह ब्रह्म से प्रथक् होता है। इसी प्रकार इन्द्र ने ब्रह्मानन्द की दशा में मग्न होकर यह कहा हो कि 'तू मुझ को जान" कि जिस से जानने वाला जब जीव को जानेगा तो उस को ब्रह्म का ज्ञान स्वयं हो जावेगा जिस प्रकार किसी

की आंख में काजल हो और वह कहे कि आंखों को देखो तो आंख के देखने से आंखों के भीतर कज्जल रेखा का ज्ञान अवश्य हो जावेगा यद्यपि यथार्थ में आंख और कज्जल दो भिन्न २ वस्तुयें हैं परन्तु एक दूसरे के भीतर होने से एक के देखने से दूसरे का ज्ञान हो सकता है जिस प्रकार किसी लोहे के गोले में अग्नि भर रही है तो अधिक उष्ण होने से वह अग्नि-रूप विदित होता है यदि किसी को कहें कि गोले को उठाले तो उस के साथ अग्नि भी आवेगी इसी प्रकार अभेदोपासना के नियम से योगी लोगों ने यदि कहा है तो कोई दोष नहीं परन्तु अज्ञानी मनुष्य बिना स्वरूप ज्ञान के केवल सुने सुनाये शब्दों से अपने को ब्रह्म कहते हैं यह महापाप है।

प्रश्न—क्या समाधि और मुक्ति में "जीव को ब्रह्म की रूपता" प्राप्त होती है अर्थात् उस समय वह ब्रह्म रूप हो जाता है* ? और उस का जीवपन दूर हो जाता है ?

उत्तर—निस्सन्देह समाधि और मुक्ति की दशा में जीव में ब्रह्म की सन्निधि से नैमित्तिक आनन्द गुण प्राप्त हो जाता है। परन्तु जीवपन दूर नहीं होता। जैसे लोहे को अग्नि में डालने से वह लाल और उष्ण हो जाता है जो केवल अग्नि का स्वरूप है परन्तु लोहापन (लोहत्व) उस से प्रथक् नहीं होता किन्तु उस अग्नि के तेज से अदृष्टि रहता है।

---

* तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम्। यो० १। ३ में भी यही भाव प्रस्फुटित किया है।

प्रश्न— लाल और उष्ण लोहे में अग्नि के गुण जलाना इत्यादि तो विद्यमान होते ही हैं। लोहेपन का कौन सा गुण उस में मिलता है?

उत्तर—अग्नि में गुरुत्व नहीं परन्तु लोहे का गोला अग्नि-रूप हो कर भी बोझ से रहित नहीं होता। इस कारण अग्नि के नैमित्तिक गुण आजाने से भी उसका स्वाभाविक गुण जो गुरुता है वह दूर नहीं होती।

प्रश्न—उस समय जीव का कौन सा गुण रहता है कि जिस से कहा जा सके कि इस में जीवपन विद्यमान है?

उत्तर—जीव का स्वाभाविक गुण जो अल्पज्ञता है वह समाधि और मुक्ति की दशा में भी विद्यमान रहती है।

प्रश्न—आचार्य लोग तो कहते हैं कि समाधि अवस्था में जीव सर्वज्ञ हो जाता है और मुक्ति बिना तत्वज्ञान के नहीं हो सकती?

उत्तर—निस्सन्देह समाधि की दशा में जीव को प्रत्येक वस्तु के जानने की शक्ति हो जाती है और मोक्ष की दशा में तत्व ज्ञान अवश्य होता है परन्तु अल्पज्ञता उस समय भी रहती है।

प्रश्न—ब्रह्म के सर्वज्ञ होने और योगी की सर्वज्ञता में क्या अन्तर है?

उत्तर—ब्रह्म सर्वव्यापक होने से एक ही काल में सब वस्तुओं को जानता है और योगी में जानने की शक्ति होती

है वह जिस वस्तु को जानना चाहे उस को जान सकता है एक ही समय में सब को नहीं जानता।

प्रश्न—क्या तत्वज्ञान की दशा में भी अल्पज्ञता रह सकती है अर्थात् मुक्ति की दशा में जब जीव प्रत्येक पदार्थ के तत्व की स्थिति का यथार्थ ज्ञान रखता है उस समय भी अल्पज्ञता जो उस का स्वाभाविक गुण है विद्यमान रहता है।

उत्तर—तत्वज्ञान अल्पज्ञता का विरोधी नहीं है। किन्तु इस के विपरीत अज्ञान का विरोधी है। इस लिये विपरीत ज्ञान और तत्वज्ञान तो एक स्थान पर रह नहीं सकते परन्तु तत्वज्ञान और अल्पज्ञता दोनों एक साथ रह सकती हैं। यदि जीव का स्वाभाविक गुण मिथ्या-ज्ञान होता तो उसे तत्वज्ञान हो ही नहीं सकता और यदि तत्वज्ञान होता तो मिथ्या-ज्ञान हो नहीं सकता इस लिये इस का स्वाभाविक ज्ञान ही अल्पज्ञता है (ब्रह्म की अपेक्षा से समझना चाहिये)—"अनुवादक" वह प्रत्येक दशा में उस के साथ रहती है।

प्रश्न—क्या अल्पज्ञता जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है अथवा नैमित्तिक?

उत्तर—जब अल्पज्ञ जीवात्मा सर्वज्ञ ब्रह्म की उपासना करता है तो ब्रह्म के प्रकाश से प्रत्येक पदार्थ का सत्यज्ञान होता है और जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है तो उस को प्रकृति के ज्ञान से रहित होने से ज्ञान पर आवरण आजाने से विपरीत ज्ञान होता है जिस प्रकार नेत्र में थोड़ी दूर तक देखने की शक्ति है जब सूर्य के प्रकाश में आंख देखती है तो

उस को रूप का यथार्थज्ञान होता है और जब थोड़े अन्धकार में देखती है तो उस को विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम उत्पन्न होता है। ठूंठ में आदमी का ज्ञान, रस्सी में सांप का ज्ञान इत्यादि जैसे होता है अतः ऐसे ही जब मुक्ति का कारण तत्वज्ञान माना गया है और वह ब्रह्म की बिना उपासना के हो नहीं सकता इस लिये तत्वज्ञानी लोग यदि उपचार से अपने को ब्रह्म कहें तो यथार्थ में जो ब्रह्म है उस से जीव ब्रह्म की एकता नहीं हो सकती।

प्रश्न—इस श्रुति में तो ब्रह्म अर्थ नहीं करना चाहिये क्योंकि जीव ही मुख्यार्थ लेना उचित है क्योंकि उसका लिङ्ग प्राण विद्यमान है ?

उत्तर—**जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥**

पदार्थ—'जीवमुख्य' इस श्रुति में जीव मुख्यार्थ है। 'प्राणलिङ्गात्' यतः प्राण जीव का लिङ्ग है। 'न' नहीं। 'इतिचेत्' यदि ऐसा हो। 'न' कोई दोष नहीं। 'उपासात्रैविध्यात्' उपासना के तीन प्रकार होने से। 'आश्रितत्वात्' उस के आश्रय वाला होने से। 'इह' यहां। 'तद्योगात्' उस का योग होने से।

अन्वयार्थ—यद्यपि प्रकट रूप से प्राण को जीव का लिङ्ग माना जाता है परन्तु यथार्थ में वह जीव का स्वाभाविक लिङ्ग नहीं है क्योंकि जीव नित्य और प्राण उत्पत्ति धर्म वान हैं। किसी नित्य पदार्थ का स्वाभाविक चिह्न उत्पत्ति धर्मवान नहीं हो सकता किन्तु वह मध्यस्थ होने से उपरान्त में आया हुआ सिद्ध होता है और स्वाभाविक का उस के साथ सदैव होना आवश्यक है। यदि जीव का लिङ्ग प्राण मान भी लिया जावे तो भी यहां ब्रह्म का ग्रहण करने में कोई दोष नहीं क्योंकि तीन प्रकार की उपासना होती है और उपासना की दशा में इस के गुण अपने में देख कर अपने को उपचार से कह सकते हैं।

प्रश्न—तीन प्रकार की उपासना कौनसी हैं ?

उत्तर—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति तीन दशाओं में जीव ब्रह्म की उपासना करता है और उस समय ब्रह्म के गुण अपने में पाकर अथवा अपने को ब्रह्म के आश्रित और उस से मिला हुआ देख कर उसके आनन्द गुण का अनुभव करता हुआ जीव अपने को ब्रह्म कह सकता है अतः उपनिषद् में प्राण शब्द से ब्रह्म लेना कोई हानि कारक नहीं ?

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो उपासना जो तीन प्रकार की मानते हैं वह इस प्रकार मानते हैं। एक प्राण धर्म से

दूसरी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि धर्म से तीसरे शरीर धर्म से अथवा आयु धर्म से ?

उत्तर—यह तीनों भी यही हैं । केवल नाम और नामान्तर भेद से जिस का नाम समाधि है वह प्राण धर्म से उपासना है क्योंकि दूरी जीव और ब्रह्म की तीन ही प्रकार से हो सकती है अर्थात् जिस समय प्राणों के द्वारा इन्द्रियों से कार्य लेता है तो उस की वृत्ति बाह्य चली जाती है इस लिये उस समय प्राणों का धर्म जीव को ब्रह्म से प्रथक् करता है इस लिये जब प्राणों को रोक कर समाधि होती है तो प्राण धर्म से जो दूरी थी वह दूर हो जाती है दूसरे जीवात्मा जब बुद्धि से बाहर के पदार्थों को विचारता है तो उस को ब्रह्म से प्रथकता और बाहर का ज्ञान होता है इस लिये जागृति और स्वप्नावस्था में जीवात्मा को ब्रह्म से बुद्धि धर्म से दूरी होती है परन्तु जब सुषुप्ति होती है बुद्धि के बाह्य विचार तिरोभूत (छिप) हो जाते हैं तब वह दूरी दूर हो जाती है । इस लिये यह बुद्धि धर्म से रहित हो कर उपासना कहलाती है । तीसरे जब तक शरीर है जीव को उसकी रक्षा के लिये बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध करना पड़ता है इस लिये वह शरीर धर्म से उपासना है अतः जब मोक्ष में शरीर के नाश हो जाने से शरीर का झगड़ा ही नहीं रहता तो वह दूरी भी दूर होजाती है ।

प्रश्न—जब कि "जीव प्राणधारणे धातु" है जिस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जीव का प्राण लिङ्ग है । इस लिये जीव प्राणी मात्र का नाम है ।

उत्तर—प्राण दो प्रकार के हैं एक सामान्य अर्थात् सर्व साधारण दूसरे विशेष प्राण। सामान्य प्राण प्रत्येक वस्तु में रहते हैं जैसे सूर्य को प्राण और चन्द्रमा को "रयि" नाम से प्रयोग पाया जाता है। अब सामान्य प्राण तो प्रत्येक जड़ और चैतन्य पदार्थ में रहते हैं जिस से पदार्थों में छः विकार अर्थात् उत्पन्न होना। बढ़ना और एक सीम पर्यन्त बढ़ कर रुक जाना। रुपान्तर होना। घटना और क्षय को प्राप्त होना। परन्तु विशेष प्राण उन शरीरों में रहते हैं जिस में जीवात्मा होता है जिस से स्वाभाविक क्रिया होती है जिस प्रकार की इच्छा जीवात्मा करता है उस प्रकार के काम प्राण करते हैं अतः इस पाद में व्यास जी ने ३१ सूत्र बनाये जिन में से पहिला तो सम्पूर्ण दर्शन का उद्देश्य बतलाता है दूसरे सूत्र में ब्रह्म को सत् सिद्ध किया तीसरे सूत्र से ११ वें सूत्र तक ब्रह्म को चित् प्रमाणित किया और १२ वें सूत्र से १५ वें सूत्र तक ब्रह्म को आनन्द स्वरूप सिद्ध करके १६ वें सूत्र से २१ पर्यन्त जीव के आनन्द स्वरूप का खण्डन और जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध किया और शेष दश सूत्रों में उपनिषदों के भीतर जहां आकाश और प्राण इत्यादि को जगत् कर्त्ता इत्यादि बतलाया है उन को ब्रह्म का ही उपचार से नाम बतलाया अब इस पाद (अध्याय) से स्पष्ट प्रकट है कि आज कल के माया-वादी जो जीव ब्रह्म का अभेद प्रकट करते हैं वह यथार्थ में

ठीक नहीं। क्योंकि व्यास सूत्र और उपनिषदों में जीव ब्रह्म का भेद कहा है अब आगे के पाद में पिछले पाद को सप्रमाण सिद्ध और सुदृढ़ करने के लिये युक्ति दी जायगी और दूसरे उपनिषद् वाक्यों की संगति भी मिलाते जावेंगे।

इति श्री पं० चन्द्रिकाप्रसादात्मज पं० गोकुल चन्द्र दीक्षितकृते ब्रह्मसूत्रे आर्य्यभाषाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

❀ ❀ओ३म् ❀

अथ द्वितीयः पादः प्रारंभ्यते।

संगति—जिन उपनिषदों के शब्दों में स्पष्ट रीति पर ब्रह्म के लक्षण पाये जाते थे उन को तो प्रथम पाद में बतला दिया। अब द्वितीय पाद में उन शब्दों की कि जो प्रकट रूप से तो ब्रह्म के चिह्न नहीं हैं परन्तु अर्थ उन का ब्रह्म ही है उन की व्यवस्था करेंगे—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

पदार्थ—'सर्वत्र' प्रत्येक स्थानों में। 'प्रसिद्धोपदेशात्' प्रत्यक्ष उपदेश होने से।

अन्वयार्थ—छान्दोग्योपनिषद में बतलाया गया है कि यह सब जगत जो दिखलाई देता है निश्चय रीति से "ब्रह्म ही है"। क्योंकि उसी से उत्पन्न हुआ उसी से स्थित रहता और उसी में लय हो जाता है। इसी लिये उस की उपासना करना चाहिये क्योंकि वह शान्ति से प्राप्त होता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा के विना अन्य प्रकार शान्ति नहीं मिल सकती?

उत्तर—यतः बहुत से पदार्थों के देखने से किसी में राग किसी में द्वेश हो इस लिये जब तक जीवात्मा बाह्य प्रकृति से बने हुये जगत को देखता है तब तक उसे राग द्वेष बना रहता है जिस से आत्मा में अशान्ति बनी रहती है। राग वाले पदार्थों की इच्छा होती है और उस के न मिलने से घबराहट रहती है और द्वेष वाली वस्तु से भय बना रहता है दोनों दशाओं में जीव अशान्त रहता है परन्तु जिस समय परमात्मा के स्वरूप के साथ सम्बन्ध करता है जैसा कि सुषुप्ति में तो शान्ति मिल जाती है।

प्रश्न—एक स्थान पर तो सब वस्तुओं को ब्रह्म कहा गया और दूसरे स्थानों में बतलाया है कि निश्चय रूप से पुरुष (ब्रह्म) यज्ञ-रूप है जिस प्रकार यज्ञ इस लोक में पुरुष होता है इसी प्रकार दूसरे जन्म में वह यज्ञ करता है अर्थात् जो मन के सम्बन्ध अथवा प्राण और शरीर के सम्बन्ध से विकार को प्राप्त होता हुआ विदित होता है। अब यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मनोमय, प्राणमय और अन्नमय इत्यादि ब्रह्म से प्रथक हैं अथवा ब्रह्म ही हैं ?

उत्तर—जहां पर उपासना के लिये ऐसे शब्द आये हों वहां ब्रह्म ही अर्थ लेना चाहिये। शेष स्थानों पर जीव श्रुति का अर्थ यह नहीं कि सब पदार्थ ब्रह्म हैं क्योंकि यदि सब पदार्थ ब्रह्म हों तो किसी वस्तु की विधि और किसी का निषेध जो श्रुति करती है वह सब निष्फल हो जावें इस लिये श्रुति का अर्थ यह है कि जिस ब्रह्म से यह जगत बना और स्थित रहता है तथा नाश को भी प्राप्त होता रहता है। आप

जगत के पदार्थों के अतिरिक्त मुक्ति की कामना रखने के उस ब्रह्म से मुक्ति की इच्छा रक्खो। जब कि श्रुति ने प्रसिद्ध रीति पर उपदेश किया है कि उपासना के योग्य केवल ब्रह्म ही है जीव और प्रकृति नहीं। इस लिये उपासना के समय पर ब्रह्म और अवसरों पर जिस का लक्षण पाया जावे वह लेना चाहिये।

प्रश्न—यह किस प्रकार मान लिया जावे कि वह ब्रह्म सर्वत्र प्रसिद्ध है ?

उत्तर—वेदान्तशास्त्र के जितने भी ग्रन्थ हैं सब ग्रन्थों में ही जगत कर्त्ता ब्रह्म को माना है। उपासना के योग्य ब्रह्म आनन्द स्वरूप है कहा गया है। इस लिये जहां कहीं जगत कर्त्ता होने अथवा उपासना के योग्य होने या आनन्द स्वरूप होने का वर्णन हो तो शब्द चाहे कोई हो उसका अर्थ जगत-कर्त्ता उपासना के योग्य आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही लिया जावेगा।

प्रश्न—प्रत्येक शब्द से ब्रह्म अर्थ लेने में अन्धेर हो जावेगा इस लिये इस के लेने के लिये कोई कसौटी होनी चाहिये।

उत्तर—विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २॥

पदार्थ—'विवक्षित' कहने वाले के लिये उपयोगी। 'गुणोपपत्तेः' गुणों के प्रगट होने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—बिना किसी कसौटी के प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक शब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं लेना चाहिये किन्तु आवश्यकता एवं उपयोगी विचार से वक्ता ने उस शब्द को कहा है वही अर्थ इस से लेना चाहिये। जहां उपयोगी गुण की उपस्थिति हो वही वक्ता का अर्थ उस शब्द से समझना चाहिये। जिस दशा में जगत कर्त्ता का वर्णन वक्ता कर रहा हो उस दशा में ब्रह्म को किसी नाम से जगत कर्त्ता कहें। ऐसी दशा में ऐसे नामों को ब्रह्म का परियाय ही मानना होगा।

प्रश्न—वेद का अर्थ किस प्रकार करोगे? क्योंकि उस का वक्ता कोई नहीं और न ईश्वर को कोई वस्तु उपयोगी है। क्योंकि लाभदायक होना किसी न्यूनता की पूर्ति के लिये अथवा किसी हानि को हटाने के लिये होती है इस लिये ईश्वर में न तो कोई न्यूनता ही है और न कोई बुराई है इस कारण इस के लिये कोई उपयोगी वस्तु ही नहीं हो सकती अतः वेदों में किस प्रकार अर्थ किया जावेगा।

उत्तर—यद्यपि वेदों के बनाने वाले को लाभदायक न होने से अर्थ में कठिनाई हो सकती है परन्तु जिस के लिए वेद बनाया गया है जो उस के अनुकूल है उस में उपचार से अर्थ हो सकता है जैसे कि कहा जाता है कि

फूल में गन्ध है तो यहां पुष्प में गन्ध का सम्बन्ध है परन्तु अचेतन गन्ध के भीतर आनन्द हो नहीं सकता इस लिये अर्थ यह करते हैं कि "जीव को आनन्द प्रद गन्ध"। इसी प्रकार जब किसी वस्तु का उत्तम वर्ण (अच्छे रंग का) कहते हैं तो वहां आनन्द का सम्बन्ध रंग से होता है परन्तु रंग जड़ है जिस में आनन्द हो नहीं सकता इस लिये जीव को आनन्द देने वाला रंग अर्थ किया जाता है इसी प्रकार वेद के अर्थ उपचार से किये जा सकते हैं इस लिये ऐसे स्थलों पर जहां उपासना का प्रकरण हो जीव को आनन्द देने वाले ब्रह्म की उपासना ही अर्थ उपयुक्त है क्योंकि वाचक का अभिप्राय उस ब्रह्म के गुण से है जो स्पष्ट रीति से पाया जाता है ?

प्रश्न—मनोमय और प्राणमय कोष इत्यादि शरीर के बिना नहीं हो सकते इस लिये ब्रह्म क्या शरीर वाला है ?

उत्तर— **अनुपपत्तेस्तु न शरीरः ॥३॥**

पदार्थ—'अनुपपत्तेः' सिद्ध न होने से । 'तु' निश्चय के लिये प्रयोग । 'न' नहीं । 'शरीरः' देहधारी ।

अन्वयार्थ—मनोमय कोषादि शब्द ब्रह्म के साथ ही सम्बन्ध रखते हैं इन का शरीरधारी जीव के साथ सम्बन्ध युक्तियों से नहीं हो सकता क्योंकि

ब्रह्म सत्य संकल्प है इस लिये इस का ज्ञान नित्य होता है और जीव सत्य संकल्प नहीं क्योंकि यह ज्ञान स्वरूप नहीं किन्तु बाह्य ज्ञान को लेने वाला है इस के ज्ञान में न्यूनाधिक्य होने से इस का ज्ञान सत्य अर्थात् सर्वदा समान रहने वाला नहीं। इस लिये श्रुति के कहे हुये शब्दों का अर्थ ब्रह्म से ही पूरा हो सकता है।

प्रश्न—क्या शरीर जीव के ही होता है ब्रह्म और ईश्वर के नहीं होता?

उत्तर—शरीर तीन प्रकार के होते हैं। स्थूल शरीर जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। सूक्ष्म शरीर जो सत्रह पदार्थों के संघात का नाम है। पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्रायें, मन और अहंकार, इस प्रकार दूसरा शरीर जिसे लिङ्ग शरीर कहते हैं, सूक्ष्म शरीर अतिवाहक शरीर आदि नाम वाले हैं। तीसरा कारण शरीर जो प्रकृति का नाम है इस लिये स्थूल, सूक्ष्म, का सम्बन्ध जीव ही से होता है ईश्वर और ब्रह्म का सम्बन्ध केवल कारण शरीर से होता है जिस का यहां प्रकरण नहीं।

प्रश्न—क्या चेतन तीन हैं अर्थात् ब्रह्म, ईश्वर और जीव हमने तो आज तक एक ही चेतन सुना था बहुधा मनुष्य दो मानते हैं अर्थात् जीव और ब्रह्म।

उत्तर—वेदान्त की परिभाषा में तीन चेतन हैं। शुद्ध ब्रह्म, जीव की दो दशायें हैं एक तो बद्ध और दूसरा मुक्त कहा जाता है।

प्रश्न—क्या प्रकृति अथवा कारण शरीर ब्रह्म का भी शरीर है?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्म इस में रहता है परन्तु ब्रह्म उस से बड़ा है इस लिये वह ब्रह्म का शरीर नहीं कहला सकता इस लिये कारण शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाले को ईश्वर और स्थूल तथा सूक्ष्म से सम्बन्ध रखने वाले को जीव कहते हैं।

प्रश्न—वेदान्ती लोग तो इस का लक्षण और ही करते हैं। अर्थात् मायोपाधि से ढपा ब्रह्म ईश्वर है और अविद्योपाधि से अच्छादित हुआ जीव है।

उत्तर—वेदान्तियों की परिभाषा में प्रकृति का नाम माया और विकृति अर्थात् प्रकृति के कार्यों का नाम अविद्या है इस लिये सिद्ध सत्व प्रधान कारण उपाधि मायोपाधि है यह सब प्रकृति के ही नाम हैं। मलिन सत्व प्रधान कार्योपाधि, अविद्योपाधि माया से उत्पन्न यह सब नाम। विकृत के हैं। यतः स्थूल, सूक्ष्म, शरीर प्रकृति का कार्य होने से अविद्या कार्य इत्यादि नाम से कहे जाते हैं। इस लिये सब का आशय तो एक ही है। परन्तु परिभाषा में भेद किया गया है।

प्रश्न—क्या माया प्रकृति का नाम है इस में कोई प्रमाण है?

उत्तर—श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट रीति से बतलाया है कि माया प्रकृति का ही नाम है और महेश्वर नाम मायापति का है। यतः मनोमय कोष इत्यादि कहने से सत्य संकल्प इत्यादि परमात्मा के भीतर हो सकते हैं जीवात्मा के नहीं। इस पर और युक्ति दी जाती है—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

पदार्थ—'कर्म' जो क्रियात्मक (किया जावे)। 'कर्तृ' करने वाला (कर्त्ता)। 'व्यपदेशात्' उपदेश होने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः कर्म कारक बतलाया है इस लिये जीवात्मा सत्य संकल्प नहीं हो सकता किन्तु इच्छा से किया हुआ कर्म सत्य नहीं हो सकता इस लिये मनोमन कोष इत्यादि शब्द स्वाभाविक कर्त्ता परमात्मा के लिये आ सकते हैं जीव के नहीं। जीव तो कभी मन से काम लेता है कभी नहीं भी लेता।

प्रश्न—क्या वेदान्त प्रत्येक स्थल पर जीव और ब्रह्म का भेद ही मानता है?

उत्तर—क्या जिस प्रकार आज कल अज्ञानी मनुष्य बिना वेद शास्त्र पढ़े ही वेदान्ती बन जाते हैं और अविद्या का नाम विद्या रख लेते हैं व्यास जी महाराज ऐसे न थे? स्वामी श्री शङ्कराचार्य्य भी इन सूत्रों के भाष्य में जीव और

ब्रह्म का भेद ही मानते हैं* व्यास देव और श्री शङ्कराचार्य्य जी तो केवल ब्रह्म को जगत का कर्त्ता सिद्ध करते हैं। यतः ब्रह्म प्राप्ति उत्कर्म के लिये जीव उपासना रूप क्रिया करता है इस लिये जगत कर्त्ता इत्यादि नित्य कर्म तो परमात्मा के हैं और कर्त्ता की इच्छा से जो कर्म होते हैं वह जीवात्मा के हैं जीव और ब्रह्म के भेद में और युक्ति दी जाती है :—

शब्दविशेषात् ॥५॥

पदार्थ—'शब्दविशेषात्' विशेष श्रुतियों के शब्दसे भी।

अन्वयार्थ—श्रुति के शब्द विशेष से भी प्रकट है कि जीव से ब्रह्म पृथक् है जिस प्रकार कहा गया है कि "आत्मा में जो पुरुष है" और आत्मा के भीतर सिवाय परमात्मा के दूसरा नहीं जा सकता इस से भी प्रकट है कि बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण में जो वर्णन आया है कि वह आत्मा से पृथक् और आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रूप से जैसा कि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयि से कहा है*

---

* यथा वा देहिनो देवमनुष्यादेर्देहांशस्तद्देकवस्त्वेकदेशत्वं वा'शत्वं विशिष्टस्य कस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव, तथाच विवेचकादिशिष्टे वस्तूनि विशेषणांशोयं विशेष्यांशोयमिति व्यपदिशन्ति विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते, एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशाशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते, तदिदमुच्यते नेदं पर इति यथाभूतो जीवस्तथाभूतो न परः'''एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेदनिर्देशाः प्रवर्त्तन्ते इ०

श्री शङ्कराचार्य जी स्वयं वेदान्तभाष्य में लिखते हैं कि-"जिस प्रकार का जीव है उस प्रकार का ईश्वर नहीं। इत्यादि।

इस कारण जीवात्मा के भीतर रहने वाला पुरुष वही (मनोमय) कहलाने वाले परमात्मा को प्रकट करने वाला है जो जीवात्मा से भिन्न है । जीव ब्रह्म के भेद [illegible] और युक्ति देते हैं :—

स्मृतेश्च ॥६॥

पदार्थ—'स्मृतेः' स्मृति में । 'च' भी बतलाया गया है ।

अन्वयार्थ—स्मृति में भी जो जीव और ब्रह्म का भेद बतलाया गया है जैसा कि गीता में लिखा है कि हे अर्जुन ! परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के अन्तर्हृदय में रहता है और सम्पूर्ण जीवों को जो माया के मंत्र पर आरूढ़ हैं भ्रमण करा रहा है* ।

प्रश्न क्या जीव अपनी इच्छा से कर्म नहीं करता इस स्मृति से तो ज्ञान होता है कि जिस प्रकार परमात्मा चक्र देता है उसी ओर जीव भ्रमण करता है अर्थात् क्रिया करता है ।

उत्तर—भोग के सम्बन्ध में निस्सन्देह जीव परतंत्र है इस लिये जो कर्म जीव अपने भोग के लिये करता है उस में

---

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वं चक्रं यन्त्रारूढानिमायया ॥ (गीता)

सफलता और असफलता सब परमात्मा के नियम से होती है। जीव अपने पुरुषार्थ से वर्त्तमान भोग का परिवर्त्तन नहीं कर सकता। गीता का अर्थ उन्हीं कर्मों से है।

प्रश्न—इन श्रुतियों में कि उस से दूसरा देखने वाला और सुनने वाला नहीं कि जिस से स्पष्ट शब्दों में परमात्मा से प्रथक् देखने सुनने वाले का खण्डन होता है और गीता में भी श्री कृष्णचन्द्र जी कहते हैं कि 'सम्पूर्ण क्षेत्रों में तू मुझे क्षेत्र का ज्ञाता जान'।

उत्तर—महात्मा श्री कृष्णचन्द्र और श्रुति के उपदेश से उन मनुष्यों का निराकरण होता है कि जो कर्म को फल देने वाला मानते हैं क्योंकि कर्म में देखने और सुनने की शक्ति नहीं। भला जो कर्म देख सुन नहीं सकता वह फल कैसे दे सकता है।

प्रश्न—अनेक मनुष्य जीव ब्रह्म का यथार्थ भेद नहीं मानते किन्तु उपाधि से कल्पित भेद मानते हैं जैसे एक ही आकाश घट और मठ उपाधि से घटाकाश अर्थात् घट में रहने वाला आकाश अथवा घर में रहने वाला आकाश होता है।

उत्तर—यह शब्द ठीक नही है क्योंकि कोई नहीं कहता कि घटाकाश लाओ, मठाकाशलाओ। जीव ब्रह्म का भेद श्रुति और व्यास सूत्र से स्पष्ट विदित है।

प्रश्न—सर्व व्यापक ब्रह्म जीव के हृद स्थान में जो अत्यन्त छोटा है किस प्रकार रह सकता है इस लिये जीव ही का उपदेश हो सकता है।

उत्तर— **अर्भकौकस्त्वात्तद् व्यपदेशाच्च नेतिचेन्ननिचाय्यत्वा देवं व्योमवच्च ॥७॥**

पदार्थ—'अर्भकौकस्त्वात्' छोटी नाड़ी अथवा स्थान होने से। 'तत्' जीव का। 'व्यपदेशः' वर्णन है अथवा उपदेश है। 'न' नहीं। 'इतिचेत्' यदि ऐसा आक्षेप हो। 'न' कोई दोष नहीं। 'नचाय्यत्वात्' देखने का स्थान होने से। 'एव' भी। 'व्योमवत्' आकाश की भांति। 'च' भी।

अन्वयार्थ—इस स्थान पर गीता का अर्थ ब्रह्म से है जीव से नहीं। क्योंकि ब्रह्म के दर्शन का स्थान हृदय स्थान है। जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश है परन्तु छोटी सी गोली में भी है यतः ब्रह्म सर्वव्यापक है इस लिये वह प्रत्येक वस्तु में कहा जा सकता है। सूक्ष्म होने से जिस प्रकार सूर्य का बिम्ब सम्पूर्ण पर पड़ता है परन्तु देखने के लिये कांच या निर्मल जल ही लेना पड़ता है। जब सूर्य ग्रहण होता है तब मनुष्य सूर्य का प्रति बिम्ब देखने के लिये एक पात्र में जल भर कर उस में देखते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापक है। परन्तु इस का दर्शन 'हृदय' के आकाश में ही हो सकता है।

प्रश्न—यदि प्रत्येक मन में ब्रह्म है तो जितने भी दुख सुख हैं वह ब्रह्म को भी होंगे क्योंकि ब्रह्म से उन का सम्बन्ध होगा।

उत्तर— सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशे-ष्यात् ॥८॥

पदार्थ—'सम्भोग प्राप्तिः' सुख दुख भोग प्राप्ति का। 'इतिचेत्' यदि ऐसा मानो। 'न' नहीं। 'वैशेष्यात्' ब्रह्म परन्तु विशेषता प्राप्ति से।

अन्वयार्थ—यतः स्थूल पदार्थ के गुण सूक्ष्म में नहीं जा सकते और मन आदि ब्रह्म से स्थूल हैं इस लिये इन में रहने वाले सुख दुख ब्रह्म को नहीं हो सकते क्योंकि सूक्ष्म के गुण स्थूल में जा सकते हैं।

प्रश्न—क्या जीवात्मा मन से स्थूल है जो वह दुख सुख भोगता है?

उत्तर—जीवात्मा भी मन से सूक्ष्म है इस के भीतर भी सुख दुख प्रवेश नहीं हो सकते, परन्तु वह अपनी अल्पज्ञता से मन को अपना लेता है इस लिये मन के गुणों को अपने में अनुभव करता है जैसे घर जलने से मनुष्य दुख मान लेता है यथार्थ में उसे कोई दुख नहीं होता।

प्रश्न—जब कि जीव और ब्रह्म दोनों शरीर में रहते हैं तब दोनों को सुख अथवा दुख अवश्य होना चाहिये ?

उत्तर—दुख अथवा सुख मिथ्या ज्ञान के स्थान हैं इस लिये सर्वज्ञ ब्रह्म को तो मिथ्या ज्ञान हो नहीं सकता इस कारण उस को सुख दुख भी नहीं हो सकते। अल्पज्ञ जीवात्मा को मिथ्या ज्ञान होता है उस को सुख दुख भी होता है संसार में भी यही देखा जाता है कि कोई वस्तु दुख अथवा सुख देने वाली है जिस वस्तु का सदुपयोग होगा उस से सुख होगा जिस का असदुपयोग होगा उस से दुख होगा। सदुपयोग तथा असदुपयोग जीव करता है ब्रह्म नहीं करता।

प्रश्न—यदि मिथ्या ज्ञान से सुख दुख होता है तो जीवात्मा में क्या मिथ्या ज्ञान होता है ?

उत्तर—जीवात्मा अपनी मूर्खता से शरीर, प्राण और मन के धर्म को अपना समझ कर दुखी होता है जैसे हम भूख और प्यास को दुख मानते हैं क्या यह जीवात्मा के धर्म हैं। उत्तर मिलता ही नहीं क्योंकि यह प्राणों का धर्म है इसी प्रकार हर्ष और शोक भी मन के धर्म हैं। बुढ़ापा, निर्बलता, और मृत्यु शरीर के धर्म हैं। यतः अज्ञानता से हम इन को अपना धर्म मानते हैं इस लिये हम को कष्ट होता है और ब्रह्म सर्वज्ञ होने से इस मिथ्या ज्ञान को प्राप्त नहीं करता। इस लिये इस को दुख और सुख रूप भोग नहीं हो सकता।

प्रश्न—*कठोपनिषद् में लिखा है कि जिस का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और क्षत्रिय अर्थात् बल दोनों भूत अर्थात् पके हुये चावल होते और मृत्यु उस की चटनी है यहां पर क्या अर्थ लेना चाहिये ? ब्रह्म, जीव अथवा अग्नि।

उत्तर—**अत्ताचराचरग्रहणात् ॥९॥**

पदार्थ—'अत्ता' परमात्मा का नाम खाने वाला है। 'चराचर ग्रहणात्' चेतन और जड़ अथवा स्थावर और जङ्गम को ग्रहण करने से।

अन्वयार्थ—इस स्थल पर अत्ता अर्थात् खाने वाला परमात्मा का ही नाम है क्योंकि वह सम्पूर्ण जगत को अपने भीतर ग्रहण करता अर्थात् लय करता है।

प्रश्न—श्रुति में तो अग्नि को खाने वाला कहा है† इस लिये इस स्थान पर अग्नि ही अर्थ लेना चाहिये क्योंकि परमात्मा के लिये तो श्रुति ने कहा कि वह न खाता हुआ देखता है अथवा जीव को खाता हुआ देखता है। अथवा यहां जीव ही अर्थ करना चाहिये क्योंकि श्रुति ने बतलाया है कि संसार के फलों को जीवात्मा खाता है‡।

---

* यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

† कालाग्नि इत्यादि।

‡ द्वा सुपर्णा ··························स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति॰।

उत्तर—जीव और अग्नि सब का भक्षण नहीं करते क्योंकि जीव सीमा वाले होने से सब को नहीं खा सकते और न अग्नि ही अपने से सूक्ष्म वायु आदि द्रव्यों को खा सकती है इस लिये सब को लय करने वाला परमात्मा है। यह भाव उपरोक्त कठोपनिषद् की श्रुति में लेना चाहिये।

प्रश्न—क्या अग्नि से भी कोई सूक्ष्म भूत है सब लोग तो आकाश को छोड़ कर शेष सब भूतों से अग्नि को सूक्ष्म मानते हैं क्योंकि इस में गुरुत्व (बोझ) नहीं होता ?

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण हैं और वायु केवल स्पर्श गुण वाली है इस लिये वायु अग्नि से सूक्ष्म है परन्तु गुरुता पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से होती है वायु पर पृथ्वी का प्रभाव पड़ता है और अग्नि पर विरोधी गुण होने से कोई प्रभाव नहीं पड़ता इस कारण वायु में गुरुत्व (बोझ) प्रतीत होता है अग्नि में नहीं होता !

प्रश्न—जब कि अग्नि में उष्णता है वह वायु में प्रवेश कर के वायु को उष्ण कर देती है और यह निर्विवाद है कि सूक्ष्म वस्तु के गुण स्थूल में आते हैं और स्थूल के सूक्ष्म में नहीं आते इस कारण वायु से अग्नि ही सूक्ष्म है।

उत्तर—हवा में अग्नि का गुण नहीं आता किन्तु ग्राहक-गुण (ले जाने) वाली होने से जल से पृथ्वी और अग्नि के परिमाणुओं को ले जाती है। इस लिये हम को शीत

और ऊष्मा का अनुभव होता है इस लिये वायु, पृथ्वी, जल और अग्नि सब से स्थूल होनी चाहिये जो ठीक नहीं है।

प्रश्न—श्रुति में तो केवल ब्रह्म को क्षत्रिय कहा है और उस का भात अर्थात् खाना बतलाया है इस से चराचर का ग्रहण किस प्रकार से हो सकता है ?

उत्तर—मृत्यु की चटनी बतलाने से ब्राह्मण, क्षत्रिय केवल उपलक्षण हैं परन्तु सब का अर्थ विकार वालों से है।

प्रश्न—इस से श्रुतियों में तो परस्पर विरोध न आवेगा। एक श्रुति तो कहती है कि वह खाता है और दूसरी कहती है कि वह केवल देखता है और खाता नहीं।

उत्तर—यहां न खाने का अर्थ केवल यह है कि वह कर्म फल अर्थात् सुख दुख नहीं भोगता और इस से उस के जगत लय कर्त्ता होने में विरोध नहीं आता।

प्रश्न—यहां पर इस शब्द से परमात्मा ही अर्थ लेने में क्या युक्ति है।

उत्तर—**प्रकरणाच्च ॥१०॥**

पदार्थ—'प्रकरणात्' अर्थात् विषय से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—इस श्रुति के अर्थ से भी परमात्मा का ही बोध होता है क्योंकि बतलाया है कि उस को कौन जान सकता है अर्थात् ब्रह्म ही कठिनता से जाना जाता

है। अग्नि तो प्रत्यक्ष है इस लिये विषय से परमात्मा ही प्रलय करने वाले विदित होते हैं।

प्रश्न—क्या जीव कठिनता से नहीं जाना जाता। जिस प्रकार परमात्मा के अस्तित्व में लाखों मनुष्यों को सन्देह है इसी प्रकार जीव के अस्तित्व में भी तो सन्देह है ?

उत्तर—हम ऊपर बतला चुके हैं।कि जीव सब को ग्रहण नहीं कर सकता दूसरे बुद्धिमान मनुष्य सुषुप्ति और मृत्यु से जीव के अस्तित्व का ज्ञान कर सकते हैं इस लिये यहां ब्रह्म ही अर्थ लेना पड़ेगा।

प्रश्न—परमात्मा और जीवात्मा का दर्शन क्यों दुर्लभ है और अग्नि आदि का क्यों सरल है ?

उत्तर— गुहांप्रविष्टावात्मानौहि तद्दर्शनात् ॥११॥

पदार्थ—'गुहांप्रविष्टौ' गुहा अर्थात् गाढ़ गर्त में। 'आत्मानौ' जीवात्मा और परमात्मा को। 'हि' निश्चय। 'तत्' उस जीवात्मा के आनन्द। 'दर्शनात्' दर्शन करने से।

अन्वयार्थ—यतः अग्नि आदि भूत और जगत के पदार्थ सब प्रत्यक्ष हैं इन को जानने के लिये अधिक

विचार की आवश्यकता नहीं इस लिये इन को प्रत्येक मनुष्य जान सकता है परन्तु जीवात्मा और परमात्मा को देखने के लिये जब तक अपने अन्तर्प्रवेश करने का सामर्थ न हो तब तक नहीं जान सकते इस लिये अपने भीतर प्रवेश होना अति कठिन है अतएव जीव और ब्रह्म का जानना अति कठिन माना गया है।

प्रश्न—अपने भीतर प्रवेश करना तो किसी भांति नहीं बन सकता। क्योंकि इस में तो आत्माश्रय दोष है?

उत्तर—जिस प्रकार नेत्रों में काजल होता है। आंख जब तक बाहर की ओर देखती है तब तक उस को अपने काजल का ज्ञान नहीं होता परन्तु जब दर्पण सन्मुख रख कर आंख की वृत्ति बाहर जाने से रोक कर अन्तर दृष्टि अर्थात् भीतर लौटती है तब आंख से आंख और काजल का ज्ञान होता है इसी प्रकार जब आत्मा अपनी बुद्धि वृत्ति को शुद्ध मन के दर्पण से बाहर की ओर जाने से रोक कर अपने स्वरूप में आनन्द गुण को ज्ञात करता है तब उस को परमात्मा और अपने स्वरूप का ज्ञान होता है और तब ही वह दुखों से तर जाता है।

प्रश्न—देखने वाला जीवात्मा है अथवा बुद्धि या मन है?

उत्तर—देखने वाला जीवात्मा है क्योंकि परमात्मा का ज्ञान स्वाभाविक है और देखने का अर्थ नैमित्तिक ज्ञान का

प्राप्त करना है जो परमात्मा में असम्भव है। बुद्धि जानने का साधन नहीं। किन्तु ज्ञान है। इस लिये देखने वाला जीव ही अर्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—क्या परमात्मा में नैमित्तिक ज्ञान नहीं आ सकता ?

उत्तर—जब कि परमात्मा सर्वज्ञ ही है तो ज्ञान कैसे बढ़ सकता है। अल्पज्ञ जीवात्मा के ज्ञान में तो न्यूनाधिक्य सम्भव है परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में न्यूनाधिक्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—ब्रह्म तो सर्वव्यापक है इस के देखने के लिये एक स्थान का उपदेश क्यों किया! उस को तो जहां चाहें वहीं देख सकते हैं ?

उत्तर—निस्सन्देह ब्रह्म सर्वव्यापक है परन्तु देखने का अवसर एक ही स्थान पर मिलता है क्योंकि जब स्थूल वस्तु में सूक्ष्म वस्तु का प्रवेश हो तो स्थूल का ही दर्शन होता है इस लिये बाह्य जगत में ब्रह्म प्रकृति में व्यापक है। प्रकृति ब्रह्म से स्थूल है इस लिये प्रकृति का ही दर्शन होता है ब्रह्म का नहीं परन्तु जीवात्मा से ब्रह्म सूक्ष्म और प्रकृति स्थूल है इस लिये जीव के भीतर केवल ब्रह्म ही रह सकता है प्रकृति नहीं अतः वहां शुद्ध ब्रह्म का ही दर्शन होगा। दूसरी बात यह भी कि जहां दो हों वहां अनिश्चित ज्ञान होता है और जहां अकेला हो हो निर्भ्रान्त ज्ञान होता है इस लिये बाहर ज्ञान (दृष्टि)

के कारण ब्रह्म का सभ्रान्त ज्ञान होता है और भीतर देखने वालों को पूर्ण ज्ञान (निर्भ्रान्त) होता है अतः ब्रह्म का निर्भ्रान्त ज्ञान होने का एक ही स्थान है।

प्रश्न—आप किस भांति जीवात्मा और परमात्मा को प्रथक् २ मानते हैं ?

उत्तर— विशेषणाच्च ॥१२॥

पदार्थ—'विशेषणात्' विशेषता से। 'च' और।

अन्वयार्थ—यतः जीवात्मा को शरीर के अर्थ पर आरूढ़ हो कर उद्देश्य पर पहुंचने वाला बतलाया गया है और परमात्मा का मार्ग श्रुतियों द्वारा अवगत हुआ है। अतः स्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म भिन्न २ हैं। स्थान और बटोही (पथिक) दोनों एक नहीं हुआ करते यह विशेषता अनेक श्रुतियों में दिखलाई गई है कि वह जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त होता है दूसरे मन्त्र में जीवात्मा परमात्मा को एक ही शरीर में रहने वाला बतला कर जीव को सुख दुख भोगने वाला और परमात्मा को केवल देखने वाला प्रकट किया गया है। दूसरी श्रुति में जीवात्मा को देखने वाला और ब्रह्म को देखने वाली वस्तु बतलाया गया है

इस प्रकार के अनेक विशेषता के शब्द पाये जाने से जीव और ब्रह्म भिन्न २ सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—*वेद ने बतलाया है कि जो मनुष्य सब भूतों को ऐसा जानता है कि यह सब आत्मा ही हो गया है उस एकता के देखने वाले को शोक और मोह किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता। इस से स्पष्ट प्रकट है कि जीव ब्रह्म से भेद वाला नहीं फिर वह ब्रह्म से पृथक् कैसे हो सकता है?

उत्तर—यहां आत्मा का अर्थ जीवात्मा लेना चाहिये जो मनुष्य ऐसा जानता है कि सम्पूर्ण योनियों में एक से ही जीव रहते हैं। कोई बड़ा और कोई छोटा नहीं उसे भय और मोह और शोक नहीं होता। यह सब जानते हैं कि पुनर्जन्म मानने वालों का निश्चय ही यही है।

प्रश्न—श्रुति ने यह जो बतलाया है कि आंख में जो पुरुष है क्या वह जीवात्मा है अथवा आत्मा का आभास है†?

उत्तर—अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

पदार्थ—'अन्तरः' परमात्मा है। 'उपपत्ते' सिद्ध होने से।

---

* यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (यजुः)

† य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। (छां०)

अन्वयार्थ—यतः पुरुष निराकार है इस लिये इस का आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब तो हो नहीं सकता। इन्द्रियों का अभिमानी जिस से इन्द्रियां सहायता पाती हैं वह भी नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियों से बड़ा है अतः वह पुरुष जो भीतर है वह परमात्मा ही है।

प्रश्न—यतः पुरुष का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है यह बात सर्वसाधारण में प्रसिद्ध है अतः आंखों में जो पुरुष है वह आभास रूप मानना चाहिये अथवा सूर्य जो आंखों का देवता है उस का बिम्ब लेना चाहिये अथवा जीवात्मा हो सकता है क्योंकि श्रुतियों ने बहुधा बतलाया है और एक ही स्थान पर बतलाने से परमात्मा नहीं हो सकता ? क्योंकि वह सर्वव्यापक है एक स्थानीय नहीं ?

उत्तर—यतः इस प्रकरण में गुण बतलाये गये हैं वह सिवाय परमात्मा के औरों में नहीं पाये जाते क्योंकि यहां पर अमृत भय से रहित समस्त दोषों से विनिर्मुक्त और सर्व पापों का नाश करने वाला इत्यादि बतलाया गया है।

प्रश्न—आंखों के भीतर क्यों बतलाया ?

उत्तर—यतः नेत्र ऐसा स्थान है कि थोड़े से मैल से बिगड़ जाता है। वह सदैव निर्मल ही रहता है अतएव जिस स्थल पर मैल होगा वहां परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जो आंखों के देवता तेज की भांति शुद्ध रहे उसी को परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं।

प्रश्न—आकाश की भांति सर्वव्यापक ब्रह्म का एक स्थान पर होने का उपदेश क्यों है ?

उत्तर—**स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥**

पदार्थ—'स्थानादि' पृथ्वी आदि स्थानों का। 'व्यपदेशात्' उपदेश होने से अथवा वतलाया जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः ब्रह्म के रहने के अनेक स्थान वतलाये गये हैं यदि एक ही स्थान वतलाया जाता तो हानि होना सम्भव है जब बड़ापन दिखलाया, पृथ्वी, आकाश और सुर्य इत्यादि स्थानों में उस के विद्यमान रहने का उपदेश किया और जब सूक्ष्मपन दिखलाया तो आंखों जैसी सूक्ष्मेन्द्रिय के भी भीतर वतलाया इस से यह वतलाया गया है कि वह सब से बड़ा है इस लिये इस के शासन के वाहर भाग कर कोई नहीं जा सकता। किसी भी लोक में जाइये उसे वहीं विद्यमान पाओगे। वह सूक्ष्म इतना है कि मन और इन्द्रिय के भीतर भी विद्यमान है उस से आप किसी कर्म को छिपा नहीं सकते संसार में आप के पापों का फल मिले अथवा न मिले परन्तु परमात्मा बड़े से बड़े राजाओं महाराजाओं,

मण्डलीकों और सम्राटों के कर्मों का फल भी देता है। तोपों के गोले, तलवारें और बन्दूकें, सामुद्रिक और वायुयान किसी को उस के दण्ड (जो वह प्रत्येक मनुष्य को उसे शुभा शुभ कर्मों के कारण देता है) से बचा नहीं सकते। इन श्रुतियों में उस का बड़ापन (महानता) और सर्वज्ञता को इस सीमा तक बतलाया है कि जिस आंख से आप चारों ओर देखते हैं कि कोई हमारे कर्मों को देख तो नहीं रहा है वह उस आंख में भी विद्यमान है।

प्रश्न—क्या असीम ब्रह्म के लिये एक स्थान पर बतलाया हानि नहीं है ?

उत्तर—स्थान तो क्या नाम, रूप, भी सर्वज्ञ, सर्व व्यापक के लिये दोष हो सकते हैं जब कि उन से ब्रह्म के महत्व का वर्णन न पाया जावे। यह स्थानादि भी उस के गुण विशेष का ही वर्णन करते हैं और मनुष्यों को पापों से बचाते हैं। "क्योंकि जब हम प्रत्येक स्थान नाम और रूप में उसे व्यापक मानेंगे तो उन २ से सम्बन्ध रखने वाले दूषित कर्म हम करने पर उतारु न होंगे और उस का भय सर्वत्र लगा रहेगा"। (अनुवादक)

प्रश्न—वह ऐसे कौन से चिह्न हैं कि जिस से ब्रह्म का अर्थ लिया जावे और जीव इत्यादि अर्थ करने की आवश्यकता न हो ?

उत्तर— सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

पदार्थ—'सुख विशिष्ट' विशेष कर सुख और सुख से भी परे पूर्ण । 'अभिधानात्' वतलाने से । 'एव' भी । 'च' जीव नहीं लेना चाहिये ।

अन्वयार्थ—यतः सुख विशेष कर ब्रह्म से ही प्राप्त होता है क्योंकि प्रकृति परतंत्र होने से सुख से रहित है इस लिये ब्रह्म स्वतंत्र और सुख से परे पूर्ण वतलाया गया है जिस प्रकार कहा कि जो आकाश की भांति व्यापक है । सुख स्वरूप है क्योंकि ज्ञान की सीमा वाला और शक्ति वाला परतंत्र हो सकता है । परन्तु असीम शक्ति और ज्ञान वाला परतंत्र कदापि नहीं हो सकता ।

प्रश्न—जिस श्रुति में यह कहा है कि सर्वव्यापक है वही सुख स्वरूप ब्रह्म है तो सर्वव्यापक आकाश होने से क्या सुख स्वरूप है ।

उत्तर—आकाश सर्वव्यापक नहीं । क्योंकि वह परमाणुओं में नहीं होता । दूसरे वह जड़ है और जड़ में ज्ञान और क्रियात्मक शक्ति न होने से स्वतंत्रता हो नहीं सकती अतः सर्वव्यापक और सुख स्वरूप ब्रह्म ही है ।

प्रश्न—यदि आकाश सर्वव्यापक नहीं अथवा परमाणुओं के भीतर नहीं तो उस का ब्रह्म के साथ उदाहरण क्यों दिया ?

उत्तर—आकाश विभु है और ब्रह्म भी विभु है इस लिये ब्रह्म के साथ आकाश का उदाहरण दिया गया है।

प्रश्न—विभु और व्यापक में क्या अन्तर है ?

उत्तर—विभु का प्रत्येक मूर्तिमान द्रव्य के साथ संयोग होता है उस के भीतर होना आवश्यक नहीं परन्तु व्यापक का भीतर बाहर दोनों ओर होना आवश्यक है अतः आकाश से ब्रह्म सूक्ष्म है वह परमाणुओं के भीतर भी रह सकता है।

प्रश्न—यदि आकाश और ब्रह्म दोनों को सर्वव्यापक मान लिया जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—दोनों समान आकृति अर्थात् समान सूक्ष्म धर्म वाले हो जावेंगे और परस्पर एक दूसरे के बीच में होकर जाना पड़ेगा और समान वस्तु में समान वस्तु का प्रवेश दुस्तर है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

पदार्थ—'श्रुत' गुरु वाक्य अथवा वेद वचन से।

'उपनिषत्' रहस्य से। 'क' सुख। 'गति' प्राप्ति। 'अभिधानात्' बतलाये जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—श्रुति ने तथा अन्य विद्वानों ने जो देवताओं के मार्ग से चलने का क्रम बतलाया है उसी से स्पष्ट विदित होता है कि नेत्रों में रहने वाले प्रकाश का जो वर्णन है वह पुरुष ब्रह्म ही है।

प्रश्न—वेदों ने कितने प्रकार की गति बतलाई है?

उत्तर—दो मार्ग हैं कि जिन से जीव चलते हैं एक देवताओं अर्थात् विद्वानों का मार्ग* जिस पर चल कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। दूसरा पितरों का मार्ग है जिस पर चलने वाले बारम्बार जन्म लेते हैं जैसा कि लिखा है "कि वह उस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होता है यह ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है देवताओं का मार्ग है इस पर चलने वाला मुक्ति को प्राप्त होता है जहां से इस कल्प में नहीं लौटता*।

प्रश्न—देवता मनुष्य किस प्रकार प्रयोग करते हैं और मनुष्यों में कितने प्रकार के लोग हैं?

---

* "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। "यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" ॥

* श्री स्वामी आनन्द गिरि जी यहां ऐसा ही मानते हैं कि जीव मोक्ष हो कर कल्पान्त में फिर लौट आता है। देखो श्रीभगवद्गीता आनन्दगिरि कृत भाष्य। -"अनुवादक"

उत्तर—देवता उस विद्वान मनुष्य को कहते हैं कि जो इस मनुष्य शरीर के अभिप्राय को समझता है वह केवल बोता (बीज डालता) अर्थात् आगे के लिये भी काम करता है जो वर्तमान के लिये कुछ भी पुरुषार्थ नहीं करता उस की मनुष्य संज्ञा है जो बोता और खाता है अर्थात् आगे के लिये भी कार्य करता है और अज्ञानता के कारण वर्तमान के लिये भी प्रयत्न करता है। तीसरे पशु संज्ञा उस की है कि जो केवल खाता है अर्थात् वर्तमान जन्म के लिये ही काम करता है।

प्रश्न—क्या जो वर्तमान के लिये काम करते हैं वह बुद्धिमान नहीं हम तो बड़े २ विद्वानों को वर्तमान के लिये ही करते देखते हैं ?

उत्तर—उपनिषदों ने बतलाया है कि संसार में दो मार्ग हैं एक श्रेय मार्ग जिस का फल मुक्ति है परन्तु वर्तमान दशा उत्तम नहीं जैसे कि एक किसान की दशा खेत बोने के समय होती है सिर से पसीना आता है और वह घाम तथा वर्षा में लगातार काम किये जाता है। दूसरा प्रेय मार्ग है जो उस समय तो बहुत अच्छा विदित होता है परन्तु फल यह होता है कि बारम्बार जन्म लेना पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य तो फल को विचार करके श्रेय मार्ग पर चलता है और मूर्ख मनुष्य पशु की भांति प्रेय मार्ग पर चलता है जिस प्रकार पशु किसी के नाज पर मुंह मारते समय यह नहीं जानता कि नाज का स्वामी दण्डा मारेगा इसी प्रकार मूर्ख नहीं जानते कि विषयों का अन्तिम परिणाम दुःख है।

प्रश्न—आंखों में पुरुष ब्रह्म है फिर जीव को भिन्न मानने में क्या हानि है ?

उत्तर— **अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७॥**

पदार्थ—'अनवस्थितेः' व्यवस्था न होने के कारण। 'असम्भवात्' असम्भव होने से। 'च' भी। 'न' नहीं 'इतरः' जीवादि।

अन्वयार्थ—यतः सूर्यादि का प्रतिविम्ब और जीवात्मा आदि का आंखों के भीतर रहने वाला पुरुष होना असम्भव होने के कारण स्थित नहीं होता। अतः आंखों के भीतर रहने वाला पुरुष ब्रह्म है।

प्रश्न—छायात्मा का विम्ब जब आंखों के भीतर जाता है तो उसे असम्भव क्यों कहा?

उत्तर—यतः वह नित्य नहीं रहता इस लिये यह अर्थ असम्भव है। क्योंकि उस पुरुष को अमृत बतलाया है।

प्रश्न—जीवात्मा तो नित्य है वही ले लेना चाहिये?

उत्तर—जीव को भी शरीर त्यागन करना पड़ता है और मृत्यु शरीर और आत्मा के वियोग का नाम है अतः इस में आंख के साथ नित्य सम्बन्ध मानना घट नहीं सकता इस लिये ब्रह्म ही लेना ठीक है।

प्रश्न—जब कि देवता अमर कहे जाते हैं तो जीवात्मा अमर ही है?

उत्तर—देवताओं को अधिक समय तक रहने वाला होने से अमर कहा गया है। यद्यपि जीव मरता नहीं परन्तु शरीर आदि को छोड़ने से अमर नहीं कहला सकता इस पर और युक्ति देते हैं।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्म व्यपदेशात् ॥१८॥

पदार्थ—'अन्तर्यामि' भीतर रह कर प्रबन्ध करने वाला। 'अधि' आधार। 'देव' सूर्य चन्द्रादि। 'आदिषु' इत्यादि में। 'तत्' उस का। 'धर्म' गुण, कर्म और स्वभाव। 'व्यपदेशात्' बतलाया जाने से।

अन्वयार्थ—यतः अन्तर्यामी अर्थात् भीतर रह कर प्रबन्ध करने वाला और सब के भीतर रहने वाला परमात्मा ही को बतलाया है इस लिये आंखों के भीतर जो पुरुष है उस से भी परमात्मा का ही होना तात्पर्य है। सिवाय परमात्मा के भीतर रह कर कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता क्योंकि प्रथम तो सब से सूक्ष्म और चेतन परमात्मा है। न तो उस से अधिक कोई सूक्ष्म है कि जो सब के भीतर रहने वाला कहला सके और न कोई उस से अधिक ज्ञान वाला ही अर्थात् सर्वज्ञ है कि जो अंतर प्रबंध कर

सके इस लिये सब के भीतर रह कर प्रबंध करने वाला परमात्मा ही है। दूसरे आकाश और सूर्य के भीतर रहने वाला उन से सूक्ष्म होना चाहिये इस लिये आकाश से सूक्ष्म परमात्मा ही है। यद्यपि जीवात्मा भी आकाश से सूक्ष्म है परन्तु वह आकाश के भीतर रह कर प्रबन्ध नहीं कर सकता क्योंकि सीमाबद्ध वस्तु की शक्ति असीम नहीं हो सकती अतः यह धर्म परमात्मा के ही हैं।

प्रश्न—यह किस प्रकार मान लिया जावे कि सब के भीतर परमात्मा है?

उत्तर—जिस प्रकार शरीर के भीतर जब जीव होता है तब तो सम्पूर्ण काम व्यवस्था पूर्वक होते हैं अर्थात् जिस शब्द को जिह्वा से उच्चारण करता है वही शब्द जीभ से बोलता है। जिस प्रकार पांवों को चलाता है उसी ओर पांव चलता है और जब जीव नहीं होता तब शरीर कोई काम नहीं करता क्योंकि वह जड़ प्रकृति का बना हुआ है इसी प्रकार जड़ प्रकृति को लेते हुये सम्पूर्ण पिण्ड और वस्तुयें जो नियम के भीतर काम कर रही हैं वह स्पष्ट रीति पर प्रकट कर रहीं हैं कि उन को प्रबन्ध में रखने वाला भी असीम ही होना चाहिये इस लिये वह सब के भीतर रह कर काम करने वाला असीम परमात्मा ही है।

प्रश्न—प्रत्येक पृथ्वी के गोले में एक २ देवता रहता है वही उस का प्रबन्ध करता है सब के भीतर एक ब्रह्म के मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—चेतन दो प्रकार के हैं एक जीव और दूसरा ब्रह्म। वह देवता भी इन दो के भीतर ही होंगे यदि दो मानोगे तो वह आकाश के भीतर रह नहीं सकता ससीम होने से यदि उस देवता को ब्रह्म मानोगे तो प्रतिज्ञा सिद्ध ही है।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि सूर्य और पृथ्वी के भीतर जो देवता है वह न तो जीव है न ब्रह्म किन्तु उन्हीं भूतों का सूक्ष्म अंश है।

उत्तर—यदि उस का भाग अथवा अंश मानोगे तो जड़ होने से प्रबन्ध करने में अनवस्था दोष होगा। इस जड़ पृथ्वी को गति देने के लिये किसी सूक्ष्म की आवश्यकता है यदि वह भी जड़ है तो उस को गति देने के लिये उस से भी सूक्ष्म होना चाहिये यदि वह भी है तो उस से भी सूक्ष्म उस को गति देने वाला होगा कि जिस का कभी अन्त नहीं होगा इस लिये अन्तर्यामी सर्वव्यापक भीतर रह कर प्रबन्ध करने वाला अवश्य परमात्मा ही है।

प्रश्न—सांख्य शास्त्र ने जिस प्रकृति को बतलाया है उस का यह धर्म है कि वह सब से सूक्ष्म है?

उत्तर— **न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात्॥१९॥**

पदार्थ—'न' नहीं। 'च' भी। 'स्मार्त्त' सांख्य स्मृति से बतलाया प्रधान अर्थात् प्रकृति। 'अतद्धर्माभिलापात्' उस का धर्म उस में विद्यमान न होने से अथवा अन्तर्यामी होने के अयोग्य।

अन्वयार्थ—यद्यपि सांख्य स्मृति से वतलाया हुआ प्रधान भी वहुत कुछ ऐसे गुणों का रखता है अर्थात् प्रथम तो उस में रूप आदि गुण नहीं दूसरे वह सव स्थानों में शान्त और परमाणु रूप होने से जानने के योग्य नहीं इस लिये वह सव विकारों का कर्त्ता और अन्तर्यामी हो सकता है इस विषय का खण्डन इस सूत्र में किया गया है कि प्रधान अर्थात् प्रकृति अन्तर्यामी नहीं क्योंकि इन धर्मों की कि जो अन्तर्यामी के लिये आवश्यक है उन का अभाव अर्थात् उस में वह विद्यमान नहीं हैं ।

प्रश्न—वह कौन सा धर्म है जो प्रधान (प्रकृति) में नहीं है ?

उत्तर—यह नियम है कि देखने वाला देखने योग्य वस्तु से पृथक् ही नहीं किन्तु स्वयं देखने योग्य नहीं होता। सुनने वाला सुनने वाली वस्तु नहीं होता। करने वाला मन करने वाली वस्तु नहीं होता। जानने वाला जानने वाला पदार्थ नहीं होता।

प्रश्न—यदि दृष्टा अर्थात् देखने वाला दृश्य अर्थात् देखने योग्य हो तो क्या हानि होगी। इस को देखने वाला भिन्न स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ेगा क्योंकि वह उस समय दृश्य है। यदि स्वयं ही देखने योग्य वस्तु और स्वयं

ही देखने वाला हो तो आत्माश्रय दोष है जिस प्रकार आप अपने कंधे पर चढ़ना असम्भव है इसी प्रकार अपने आप को देखना भी असम्भव है।

उत्तर—हम तो नित्य देखते हैं कि हाथ में दर्पण लेकर आंख आंखों को देखती है वह प्रतिविम्ब नेत्रों से भिन्न वस्तु है क्योंकि अन्य स्थान में रहता है ?

प्रश्न—हम तो श्रुतियों में सुनते हैं कि जैसा महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयि से स्पष्ट कहते हैं कि आत्मा ही देखने योग्य वस्तु है। सुनने योग्य है इत्यादि २ तो क्या यह कथन असत्य है ?

उत्तर—इस कथन से याज्ञवल्क्य जी का यह तात्पर्य है कि बुद्धि से आत्म विचार करना ही मनुष्य कर्तव्य है और वह आत्मा के प्रतिविम्ब को ही देख सकता है जिस प्रकार आंख आंखों के विम्ब को देखती हैं उपचार से आत्मा के गुणों अथवा प्रतिविम्ब के देखने का नाम आत्मा का देखना है स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—इस का क्या प्रमाण है कि याज्ञवल्क्य जी का आत्मा के प्रतिविम्ब देखने से ही तात्पर्य्य है ?

उत्तर—यतः दूसरी श्रुति में लिखा है कि दृष्टि दृष्टा को नहीं देखती अथवा देख सकती। कोई भी गुण अपने गुणी को नहीं जान सकता इस लिये कारण कार्य से भिन्न ही अन्तर्यामी हो सकता है जो परमात्मा है।

प्रश्न—जीव तो कारण और कार्य से प्रथक् है वह अन्तर्यामी क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तर—**शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैन-मधीयते ॥२०॥**

पदार्थ—'शारीरश्च' जीवात्मा अन्तर्यामी नहीं। 'उभये' दोनों में। 'अपि' भी। 'हि' निश्चय करके। 'भेदेन' भेद करके। 'एनम्' परमात्मा। 'अधीयते' पढ़ा है।

अन्वयार्थ—जीवात्मा को भी अन्तर्यामी नहीं कह सकते क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा दोनों में परमात्मा को जीवात्मा का अन्तर्यामी श्रुति ने बतलाया है जब जीव ब्रह्म का भेद करके एक को अन्तर्यामी और दूसरे को उस के नियम के भीतर रहने वाला सिद्ध किया है तो वह किस प्रकार अन्तर्यामी हो सकता है। यद्यपि जीवात्मा के लिये द्रष्टा अर्थात् देखने वाला इत्यादि काम जो परमात्मा में बतलाये हैं सम्भव हो सकते हैं। क्योंकि वह भी चेतन अर्थात् ज्ञान वाला है परन्तु इयत्तावान (सीमा

वाला) होने से वह सूर्यादि का अन्तर्यामी नहीं हो सकता और न अपना ही अन्तर्यामी हो सकता है। इस लिये सब का अन्तर्यामी परमात्मा है ?

प्रश्न--क्या इस सूत्र में दो देखने वाले हैं एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। यदि कहो कि दोनों के होने में क्या हानि है तो उस श्रुति से विरोध आता है कि जिस का अर्थ यह है कि दूसरा कोई देखने वाला नहीं। इस के सिवाय कोई सुनने वाला नहीं उस से भिन्न कोई मनन करने वाला नहीं। यहां केवल शब्दों में कारणों का खण्डन किया गया है कि दो देखने वाले नहीं ?

उत्तर—ऐसे प्रकरणों में देखने सुनने का अर्थ सब के देखने सुनने से है कि दृष्टा अर्थात् सम्पूर्ण संसार को देखने वाला सब की बातें जानने वाला सब के मन के भेद को समझने वाला केवल परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

प्रश्न—श्री शङ्कराचार्य्य जी ने यहां दोनों शाखाओं अर्थात् माध्यन्दिन और कण्व शाखा वाले कि जो इस पाठ को भेद से पढ़ते हैं ऐसा अर्थ किया है ?

उत्तर—इस अर्थ में भी तो वह श्रुति ही लेनी पड़ती है कि जिस में जीव का अन्तर्यामी परमात्मा को बतलाया है यद्यपि दोनों शाखा वाले पृथक् २ पाठ इस श्रुति का करते हैं परन्तु इस में भी जीव का अन्तर्यामी परमात्मा ज्यों का त्यों बना रहता है अतः कोई विरोध नहीं।

प्रश्न—श्री शङ्कराचार्य्य जी ने यहां इस प्रकरण में भेद उपाधिकृत बतलाया है जैसे घटाकाश, मठाकाश एवं महताकाश।

उत्तर—घटाकाश के भीतर महताकाश व्यापक नहीं होता और न वह आकाश अन्तर्यामी ही हो सकता है इस लिये श्री शङ्कराचार्य्य जी का आशय जीव और ईश्वर का भेद तो उपाधि से है, कथन समीचीन है। क्योंकि अविद्योपाधि अर्थात् कार्य शरीर से जीव, और कारण शरीर से ईश्वर हो सकता है परन्तु उपाधि भेद से अन्तर्यामी होना सम्भव नहीं।

प्रश्न—परा और अपरा विद्या में परा उसे कहते हैं कि जिस से उस अविनाशी का ज्ञान हो और उसे इस प्रकार लापन किया गया है कि जो देखने में नहीं आता, जो ग्रहण नहीं किया जाता, जिसका गोत्र और वर्ण नहीं जिस के कान और आंख नहीं, जो हाथ पांव रहित, सर्वत्र और सर्वाधार सब का अन्तर्यामी, सूक्ष्म नाश रहित है उस भूतों के कारण को जो मनुष्य जानते हैं इत्यादि कथन से यहां यह शङ्का होती है कि यह भूतों की कारण प्रकृति है या जीवात्मा अथवा परमात्मा ?

उत्तर—अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः॥२१

पदार्थ—'अदृश्यत्वादिगुणकः' न देखने योग्य गुणों वाला परमात्मा ही है। 'धर्मोक्तेः' धर्म बतलाया जाने से।

अन्वयार्थ—यतः इस के धर्म और प्रकृति के धर्म कोई २ समान हैं परन्तु भूतों का कारण परमात्मा ही है क्योंकि सब के भीतर प्रकृति नहीं जा सकती और प्रकृति का नाप 'अक्षर' भी नहीं हैं इस प्रकार के धर्म कहने से ज्ञात होता है कि श्रुति ने जिस भूतों के कारण का वर्णन किया है वह परमात्मा ही है।

प्रश्न—जब कि दृष्टान्त में उपादान कारण दिया है तो स्थान पर भी उपादान कारण अर्थात् प्रकृति को ही लेना चाहिये। जैसे पृथ्वी में औषधि उत्पन्न होती हैं जैसे मनुष्य के शरीर से बाल उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार मकड़ी से तन्तु (जाला) उत्पन्न होता है इसी प्रकार उस अक्षर अर्थात् नाश रहित से जगत उत्पन्न होता है ?

उत्तर—आप के दिये हुये यह तीनों दृष्टान्त उपादान कारण के नहीं। क्योंकि पृथ्वी के भीतर परमात्मा अन्तर्यामी के विद्यमान होने से औषधियां उस नियामक-क्रिया से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य के शरीर में बाल भी उसी की क्रिया से उत्पन्न होते हैं और मकड़ी में तन्तु (जाला) भी उसी नियामक प्रबन्धक-क्रिया और जीव की कामना से उत्पन्न होते हैं। इस लिये जिस प्रकार इन प्रकरणों में आत्मा कारण है ऐसे ही आत्मा से समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। यदि परमात्मा के सर्वज्ञादि धर्म न भी बतलाये होते तो भी अनुमान से परमात्मा का ही ज्ञान होता ? जब कि वहां यह धर्म बतलाये गये हैं कि जो सिवाय परमात्मा के दूसरे में हो ही नहीं

सकते ? तो फिर प्रकृति भूतों का कारण कैसे हो सकनी है विशेष कर वेदान्त के भीतर कि जहां यह निर्णय किया गया है कि वह कर्ता अर्थात् निमित्त कारण है।

प्रश्न—अक्षर शब्द प्रकृति और परमात्मा दोनों के लिये आ सकता है क्योंकि दोनों ही सत् हैं अर्थात् उत्पत्ति और नाश रहित हैं फिर अक्षर से ब्रह्म का ग्रहण करने और प्रकृति का ग्रहण न करने में क्या हेतु है और उपरोक्त दृष्टान्तों में यदि चेतन आत्मा मान भी लिया जावे तो सङ्ग में शरीर और उपादान कारण भी बना रहेगा। इस के लिये ब्रह्म को लेना और प्रकृति को न लेना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है?

उत्तर—हम पूर्व बतला चुके हैं कि वेदान्त शास्त्र निमित्त कारण अर्थात् कर्त्ता मानता है इस लिये वेदान्त में कारण शब्द से 'कर्त्ता' ब्रह्म ही लेना चाहिये।

प्रश्न—जब कि तीन के भीतर कारणत्व (कारणपन) विद्यमान है तो दूसरे क्यों न लिये जावें ?

उत्तर— **विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च-नैतरौः ॥२१॥**

पदार्थ—'विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च' भेद करने वाला गुण और परस्पर का भेद बतलाने से भी। 'न' नहीं। 'इतरौ' जीव और प्रकृति।

अन्वयार्थ—यतः श्रुति ने जहां कारण वाद कहा है वहां ऐसे गुणों का वर्णन किया है जो परमात्मा को अन्यों से भिन्न अर्थात् पृथक् करते हैं और जीव तथा ब्रह्म का भेद भी श्रुतियों ने भले प्रकार प्रकट कर दिया है। जड़ प्रकृति और ब्रह्म का भेद प्रत्यक्ष है इस लिये जीव और प्रकृति वेदान्त में जगत का कारण नहीं बतलाये गये हैं।

प्रश्न—वह कौन से गुण हैं जो जीव में नहीं हैं ?

उत्तर—ब्रह्म को जीव से प्रथक् करने के लिये बतलाया गया है कि वह प्रकाश और अमूर्त है वह सब के भीतर और बाहर है और उत्पत्ति रहित जो पुरुष है उस के प्राण और मन नहीं और वह शब्द है जो सब के भीतर और बाहर नहीं हो सकता। मन और प्राणों के बिना काम नहीं कर सकता इसी प्रकार की और भी अन्य बातें हैं।

प्रश्न—परमेश्वर किस प्रकार भूतयोनि है ?

उत्तर— रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

पदार्थ—'रूपोपन्यासात्' रूपकालङ्कार से वर्णन किये जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः जहां उपनिषदों ने अलङ्कार की रीति पर ब्रह्म का वर्णन किया है वहां यह बतलाया

है कि अग्नि उस का मुख, चंद्रमा और सूर्य उस के नेत्र, वेद उस की वाणी, वायु प्राण, समस्त जगत उस का हृदि है और पृथ्वी उस के पांव और वह इन भूतों के भीतर रहने वाला आत्मा है।

प्रश्न—अन्यत्र अभी तो परमात्मा को मूर्त्ति रहित बतलाया था और अब उस का शरीर बतला दिया और उस के समस्त अङ्गों को भी गिनाया क्या यह उपनिषदों में व्याघात दोष नहीं ?*

उत्तर—मूर्त्ति का प्रयोग इस लिये किया गया है कि वह सीमा वाला नहीं क्योंकि मूर्त्ति सदैव समीप (सीमा वाली) होती है। इस स्थान पर अङ्गों का वर्णन इस लिये किया गया कि जिस से ज्ञात हो कि वह सर्वव्यापक है कोई भूत उस से बड़ा तो क्या उस के समान भी नहीं हो सकता क्योंकि वह समस्त भूतों में व्यापक है और प्रत्येक भूत उस के एक अङ्ग के समान भी नहीं।

प्रश्न—जो अन्य वस्तु अर्थात् दृष्टिगोचर के योग्य हैं उन के गुणों से युक्त है वह किस प्रकार भूतों का कारण हो सकता है उस को मूर्त्ति और अङ्ग वाला सिद्ध करना किस प्रकार ठीक हो सकता है ?

---

* विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुतविश्वत स्यात्।
स बाहुभ्यां धमति समपत्रैर्द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः॥

-"अनुवादक"

उत्तर—इन सब श्रुतियों से समस्त भूतों का जन्म और नाशवान सिद्ध करके परमात्मा को सब के भीतर रहने वाला बतलाया है नकि उस की मूर्त्ति और रूप को मान लिया है क्योंकि यदि भूतों को उस का शरीर माना जाता तो वह उन का उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता क्योंकि कोई अपने शरीर को स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रश्न—इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि परमात्मा दो प्रकार का है एक सगुण और दूसरा निर्गुण जिन श्रुतियों में उस की मूर्ति का खण्डन किया गया है वहां निर्गुण का वर्णन है जहां उस के पांव और शिर आदि अवयव बतलाये हैं वहां सगुण ब्रह्म का वर्णन है ?

उत्तर—निर्गुण अथवा सगुण दो प्रकार का परमात्मा नहीं है किन्तु प्रत्येक वस्तु में यह दोनों बातें रहती हैं अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों से गुणी होने के कारण अपने ज्ञानादि गुणों के कारण सगुण और प्रकृति के जो सत्, रज, तम गुण हैं उस के लिये निर्गुण कहलाते हैं। अलङ्कार तो केवल उस को सर्वव्यापक, और जगत कर्त्ता सिद्ध करने के लिये है क्योंकि उस को सम्पूर्ण जगत में व्यापक बतलाया है कहीं समस्त जगत को उसके एक पांव में बतलाया है ताकि मनुष्य उस को प्रकृति के बराबर और प्रकृति को उस का शरीर न मान लें।

प्रश्न—श्रुतियों में जो वैश्वानर इत्यादि शब्द जगत् में उपासना प्रकरण में आये हैं वह अग्नि के बोधक हैं अथवा इन से जीवात्मा या परमात्मा का अर्थ लेना चाहिये ?

उत्तर— वैश्वानरः साधारणशब्दवि-
शेषात् ॥२४॥

पदार्थ—'वैश्वानरः' परमात्मा ही का नाम है। 'साधारणशब्दविशेषात्' क्योंकि साधारण अर्थात् सामान्य शब्द से तो उस का अग्नि आदि अर्थ है परन्तु यहां विशेष शब्द दिये जाने से।

अन्वयार्थ—यतः सामान्य शब्दों में तो वैश्वानर अग्नि का नाम है। जो उदर में भोजन को पचाती है उस को वैश्वानर (जठराग्नि) कहते हैं। अनेक प्रकरणों में जीवात्मा का वर्णन करते हुये भी आचार्यों ने वैश्वानर नाम से जीव को कहा है परन्तु वेदान्त शास्त्र में जहां उपासना प्रकरण में वैश्वानर शब्द आया है वहां सामान्य शब्द नहीं किन्तु विशेष शब्द है इस लिये वहां उस का अर्थ उदर-अग्नि अथवा जीवात्मा ही अर्थ लेना ठीक नहीं किन्तु परमात्मा ही अर्थ करना चाहिये।

प्रश्न—क्या शीत के सताये मनुष्य के लिये अग्नि उपास्य नहीं? क्योंकि अग्नि-योग से शीत का विनाश होता है?

उत्तर—यद्यपि शीत अग्नि से भी नष्ट हो जाता है परन्तु वह वस्त्रों से भी दूर हो सकती है अतः उपासना प्रकरण में वैश्वानर शब्द केवल परमात्मा का ही नाम है।

प्रश्न— इस स्थान पर वैश्वानर शब्द में क्या विशेषता है कि जिस के कारण उस का अर्थ परमात्मा ही किया जाता है ?

उत्तर—यतः अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा तीनों के लिये यह शब्द आया है परन्तु यहां यह दिखलाया है कि इस आत्मा वैश्वानर के स्वरूप हो स्वतेज अर्थात् अग्नि है जब अग्नि उस का शरीर बतलाया तो वह अग्नि भी किस प्रकार हो सकता है "क्योंकि अग्नि का सिर अग्नि नहीं हो सकता और न कहीं जीवात्मा का सिर ही अग्नि बतलाया है इस विशेषता के कथन से जिस परमात्मा को अलङ्कार की रीति से कहते हुये अग्नि उस का शिर बतलाया है वही परमात्मा इस शब्द के कहने का आशय है"। क्योंकि वहां एक विशेषता और भी बतलाई गई है वह यह कि वहां यह प्रश्न है कि हमारा आत्मा कौन है ? और ब्रह्म क्या है ? इस प्रकरण में वैश्वानर शब्द के उत्तर में आने से भी वह ब्रह्म का ही लिङ्ग है इस पर और हेतु दिया जाता है :—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

पदार्थ—'स्मर्यमाणम्' स्मृति में विचार किया हुआ। 'अनुमानं स्यात्' अनुमान हो। 'इति' समाप्ति सूचक।

अन्वयार्थ—स्मृति में भी इस अनुमान के लिये स्थान दिया है जैसा कि एक स्मृति में कहा है कि जिस का मुंह है। सूर्य्य लोक से ऊपर का आकाश जिस का शिर है। आकाश जिस की नाभि है। पृथ्वी जिस के पांव हैं इस श्रुति और स्मृति के प्रमाणों से अनुमान होता है कि यहां वक्ता का अभिप्राय वैश्वानर शब्द से ब्रह्म ही का है। आगे अन्य आक्षेपों को बतलाते हैं—

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेतिचेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

पदार्थ—'शब्दादिभ्यः' शब्दादि महत्वों से। 'अन्तःप्रतिष्ठानात्' भीतर उपयुक्त रीति पर स्थित होने से। 'न' नहीं। 'इतिचेत्' ऐसा हो। 'न' नहीं। 'तथा' ऐसे। 'दृष्ट्युपदेशात्' दृष्टि का उपदेश होने से। 'असम्भवात्' असम्भव होने से। 'पुरुषम्' पुरुष अर्थात् शरीर में रहने वाला अथवा संसार में रहने वाला। 'अपि' भी। 'च' और। 'एनम्' इस को। 'अधीयते' पढ़ते हैं।

अन्वयार्थ—बहुधा मनुष्यों के हृदय में जो इस प्रकरण में आशङ्का होती है कि वैश्वानर शब्द के अर्थ पर परमेश्वर लेना ठीक नहीं। क्योंकि वह दूसरे पदार्थों के लिये भी प्रयोग में आया है और यह आक्षेप कि पुरुष तो भीतर व्यापक है इस से अग्नि ही वैश्वानर शब्द का अर्थ लेना चाहिये इस के उत्तर में ऋषि कहते हैं कि यह आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि वहां पर दृष्टि का उपदेश किया है। यदि स्थान पर अग्नि का अर्थ लिया जावे तो दृष्टि का होना असम्भव है वह दिखलाने वाली तो है परन्तु देखने वाली नहीं है इस लिये अर्थ के करने में दोष नहीं। इसी प्रकार उस को पुरुष शब्द से निर्देश किया गया है जब वैश्वानर को पुरुष के नाम से पढ़ा है तो ब्रह्म का नाम समझना दोषयुक्त नहीं।

प्रश्न—जो अग्नि = तैजसादि शब्दों की विशेषता से ब्रह्म अर्थ किया है यह ठीक नहीं क्योंकि यह शब्द उदर की अग्नि के लिये भी आते हैं ?

उत्तर—यदि इस प्रकरण में केवल यही विशेषता होती तो सम्भव था कि दोनों अर्थ किये जाते किन्तु उस स्थान पर पुरुष पढ़ा गया है जो स्पष्ट शब्दों में जीव और ब्रह्म का नाम है और यतः उपासना करने वाला जीव है इस लिये जिस की उपासना की जावे वह पुरुष केवल ब्रह्म ही है इस लिये

वैश्वानर शब्द से ही उस का आशय समझना चाहिये। अब इस पर विचार कर के तथ्य (निष्कर्ष) निकलते हैं—

अत एव न देवता भूतञ्च ॥२७॥

पदार्थ—'अतः' इस लिये। 'एव' भी। 'न' नहीं। 'देवता' अभिमानी देवता। 'भूतञ्च' अग्नि आदि परमाणु।

अन्वयार्थ—इस लिये न तो अग्नि का अभिमानी कोई देवता है जो वैश्वानर शब्द से ग्रहण किया जा सकता है और न अग्नि भूत कह सकते हैं किन्तु स्पष्ट शब्दों में विषय को देख कर वैश्वानर शब्द के अर्थ परमात्मा ही के लेने पड़ते हैं। युक्तियां ऊपर दी जा चुकी हैं कि केवल उष्ण और प्रकाश वाली अग्नि का सूर्य से, और ऊपर वाला आकाश शिर हो सकता है और न अग्नि का मुख अग्नि हो सकता है और न अग्नि के नेत्र सूर्य तथा चन्द्र हो सकते हैं न पृथ्वी ही इस के पांव हो सकते हैं इस लिये वैश्वानर शब्द के अर्थ ब्रह्म ही लेना विषय के अनुकूल है और प्रकरण के विरुद्ध नहीं माना जा सकता इस विषय में जैमिनि आचार्य की सम्मति प्रकाशित करते हैं:—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥१८॥

पदार्थ—'साक्षात्' प्रत्यक्ष में। 'अपि' भी। 'अविरोधम्' विरोध नहीं। 'जैमिनिः' व्यास जी के शिष्य जैमिनि आचार्य।

अन्वयार्थ—यतः उपासना प्रकरण में साक्षात् ब्रह्म की उपासना लिखी है इस में किसी प्रकार का विरोध नहीं जो मनुष्य यह कहते हैं कि स्थान पर प्रतीकोपासन जैसे एक स्थान को नियत करके चांदमारी में चिह्न लगाने वाले लक्ष्य भेदन करना सिखाते हैं इसी भांति अग्नि अथवा उस के अभिमानी देवता को प्रत्यक्ष उपासना के लिये श्रुति ने रक्खा है ऐसा कथन ठीक नहीं किन्तु जैमिनि ऋषि कहते हैं कि वैश्वानर ब्रह्म ही का नाम है इस में किसी श्रुति से विरोध नहीं आता।

प्रश्न—क्या व्याकरण के नियमानुसार वैश्वानर नाम परमात्मा का हो सकता है?

उत्तर—"विश्वे नराऽस्येति विश्वानरः" समस्त जगत में जिस के नर हैं इस कारण सब का आत्मा

होने से परमात्मा वैश्वानर कहला सकता है क्योंकि ऐसा कोई जीव नहीं कि जो परमात्मा के नियम के बाहर हो।

प्रश्न—बहुत से नास्तिक हैं कि जो परमात्मा की आज्ञा तो क्या उस के अस्तित्व से भी नकारी हैं ?

उत्तर—ऐसा कोई मनुष्य नहीं वह चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, जो अपने आप को परमात्मा के नियमों से बाहर चला सके। परमात्मा ने आंख से देखने का नियम रक्खा है कोई नास्तिक कान से नहीं देख सकता परमात्मा के नियम के अनुसार पाप और पुण्य का फल सुख अथवा दुख मिलते हैं इस को कोई शक्तिशाली से शक्तिशाली नास्तिक भी तोड़ नहीं सकता। परमात्मा के नियम से मृत्यु आती है इस से कोई बच नहीं सकता इस लिये परमात्मा ही को ब्रह्म और वैश्वानर कहते हैं। इस पर आश्मरथ्याचार्य की राय दिखाते हैं :—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

पदार्थ—'अभिव्यक्तेः' वर्णन करने के लिये। 'इति' इस सीमा युक्त स्थान में। 'आश्मरथ्यः' आश्मरी आचार्य मानते हैं।

अन्वयार्थ—आश्मरी आचार्य यह कहते हैं कि श्रुतियों ने जो अनेक स्थानों पर ब्रह्म को एक देशी बतलाया है वह केवल कथन करने मात्र के लिये

ही बतलाया है । जैसे हृदयाकाश इस लिये बतलाया कि वह वहां देखा जा सकता है अन्य स्थानों में मन के दर्पण का सम्बन्ध न होने से उसे देख नहीं सकते जिस प्रकार एक कवि कहता है कि ❀संसार का प्रत्येक हरा पत्ता एक कार्यालय है जिस से परमात्मा का ज्ञान हो सकता है श्रुतियों ने भी प्रत्येक वस्तु के भीतर ब्रह्म की विद्यमानता को दिखलाया है और मनुष्यों की भूलों को दूर किया है कि जो परमेश्वर को एक देशी मान कर चौथे आकाश अथवा सातवें आकाश अथवा सोलहवें लोक में ले गये हैं प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म होने से जीवात्मा के भीतर भी ब्रह्म है अतः भीतर रहने वाले ब्रह्म की खोज संसार में करना मूर्खता है इस अज्ञानता को मिटाने के लिये श्रुतियों ने प्रत्येक स्थान पर ब्रह्म का वर्णन किया है जिस से अज्ञानी मनुष्य के भीतर से यह विचार दूर हो जावे कि परमात्मा के ज्ञान के लिये किसी वाह्य साधनों की आवश्यकता है किन्तु यह बतलाया है कि परमात्मा भीतर विद्यमान है इस के सम्बंध में वादरि आचार्य अर्थात् व्यास देव जी के पिता यह कहते हैं :—

❀ हर वर्ग दर नज़रे, होशियार दफ्तरीस्त अज़ मारफ़ते किर्दगार ।

अनुस्मृतेर्वादरिः ॥३०॥

पदार्थ—'अनुस्मृतेः' अनुस्मरन के लिये। 'वादरिः' पराशर जी मानते हैं।

अन्वयार्थ—पराशर जी का ऐसा मत है कि जिन श्रुतियों में परमात्मा को एक देश में वतलाया है जैसे हृदयाकाश में दश अंगुल* अथवा आंख के भीतर 'यह सब अनुस्मृति अर्थात् परमात्मा की सूक्ष्मता के विचार के कारण कहा गया है क्योंकि यदि परमात्मा के भीतर कोई अनुमान होता तो प्रकट किया जाता परन्तु परमात्मा के सब से बड़े होने से उसका कोई परिमाण नहीं न उस की लम्बाई चौड़ाई और न बोझ (भार) है कि जिस का अनुमान किया जा सके। आंख और मन के भीतर वतलाने से उस की सूक्ष्मता और ब्रह्माण्ड से बड़ा वतलाने से उस के व्यापक होने का कथन किया है इस पर जैमिनि आचार्य अपनी सम्मति देते हैं।

---

* अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। इत्यादि। अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। इत्यादि प्रमाण हैं।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥२१॥

पदार्थ—'सम्पत्तेः' ऐश्वर्य के हेतु । 'इति' समाप्ति के लिये । 'जैमिनिः' जैमिनि जी मानते हैं । 'तथा' इसी प्रकार । 'हि' निश्चय करके । 'दर्शयति' दिखलाते हैं ।

अन्वयार्थ—जैमिनि आचार्य का इस विषय पर कि श्रुतियों ने परमात्मा को एक देशी क्यों बतलाया है । यह विचार है कि जिन वस्तुओं में परमात्मा को बतलाया है उन से परमात्मा का ऐश्वर्य प्रकट किया है अर्थात् जितने पदार्थ परमात्मा ने बनाये हैं प्रत्येक के भीतर किसी न किसी अवसर पर परमात्मा का कथन करके समस्त पदार्थों के समूह को परमात्मा का ऐश्वर्य प्रकट किया है जैसे कोई कहे कि रामचन्द्र जी अयोध्या के राजा थे परन्तु उन्हें कोई काशी और पटने का भी राजा कहे इसी प्रकार जितने प्रसिद्ध नगरों के नरेश थे । भिन्न २ अवसरों पर प्रकट कर दे । यद्यपि प्रथक् २ देखने से उस के राज्य का एक २ नगर में होना प्रकट होगा, परन्तु सब स्थानों को मिलाने से सब स्थानों में उन की विद्यमानता को प्रकट करता है ।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

पदार्थ—'आमनन्ति' उपनिषदों में विचार करते हैं। 'च' भी। 'एनम्' इस विषय। 'अस्मिन्' सम्पत्ति के विचार में।

अन्वयार्थ—परमात्मा की सम्पत्ति अर्थात् ऐश्वर्य को दिखलाने के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन है कि जो यह अनन्त और अव्यक्त आत्मा है और सर्व देशीय सत् है सूक्ष्म आत्मा भ्रुवों के मध्य विद्यमान है फिर प्रश्न हुआ कि वह भ्रुवों युक्त किस में है वह वरुणी और नासा के मध्य में है और वह वरुणी और नासा कहां है इस का उत्तर दिया गया कि वह जहां नासिका और भ्रुवों का मिलाप है। इन सब बातों में जो इस अध्याय में प्रकट की गई हैं जिन से परमात्मा को भिन्न २ स्थानों में व्यापक बतलाकर उस को सर्वव्यापक सिद्ध किया गया है जिस में जीव और ब्रह्म का भेद अच्छे प्रकार से प्रकट किया गया है जो लोग पूर्व दोनों अध्यायों को दत्तचित्त होकर पढ़ लेते हैं उन के हृदय में किसी भी प्रकार से विश्वास हो सकता

है कि जीव और ब्रह्म का भेद नहीं है अर्थात् अवश्य भेद है। उपाधि से भेद बतलाने में उन को यह सिद्ध करना चाहिये कि घटाकाश के भीतर महताकाश व्यापक है क्योंकि श्रुति ने तो जीव के भीतर ब्रह्म को व्यापक मान कर जीव को शरीर और उस परमात्मा को उस शरीर का आत्मा बतलाया है जिन मनुष्यों को वेदान्त के जानने का अभिमान हो वह किसी युक्ति से जीव और ब्रह्म का भेद दूर करने की इच्छा रखते हों उन को कोई ऐसी वस्तु खोज कर लेनी चाहिये जो उपाधि से अपने भीतर प्रवेश कर सके। संसार में तो कोई ऐसी वस्तु नहीं जो अपने ही भीतर प्रवेश कर सके क्योंकि इस में आत्माश्रय दोष है परन्तु वेदान्तियों के सिद्धान्त जानने वाले मायावादियों की कल्पना शक्ति बड़ी प्रबल है इन को संसार में ऐसा पदार्थ कल्पना करना चाहिये जो अपने भीतर स्वयं रह सके। इस समय तक अनेक वेदान्त के ग्रन्थ हैं परन्तु किसी ग्रन्थ में ऐसी वस्तु नहीं दिखलाई दी कि जो अपने भीतर उपाधि से स्वयं जा सके। जब कि व्यास मुनि और उपनिषदें भी प्रबलता से जीव ब्रह्म का स्वरूप पृथक् २

बतला रहे हैं, और जीवात्मा को विज्ञानात्मा इस लिये कहा है कि वह स्वाभाविक और नैमित्तिक दोनों प्रकार के ज्ञान रखता है। और परमात्मा में नैमित्तिक ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि इसके सर्वज्ञ होने से कोई वस्तु इस के ज्ञान से बची हुई नहीं कि जिस का ज्ञान उसे प्राप्त करना हो। जीवात्मा के अल्पज्ञ होने से उस के ज्ञान में सदैव उन्नति हो सकती है इस लिये उस को श्री शङ्कराचार्य्य जी ने "विज्ञानात्मा" कहा है। अब इस पाद को समाप्त करके तीसरे पाद का अनुवाद आरम्भ करते हैं इस पाद में भी उपनिषदों के वाक्यों की व्यवस्था की है।

इति श्री पं० चन्द्रिका प्रसादात्मज पं० गोकुलचन्द्र दीक्षितकृते ब्रह्मसूत्रे आर्य्यभाषाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

✻ ओ३म् ✻

अथ तृतीयः पादः प्रारभ्यते।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

पदार्थ—'द्युभ्वादि' द्यौलोक और भूलोक इत्यादि का। 'आयतनम्' रहने का स्थान परमात्मा है। 'स्वशब्दात्' आत्मा शब्द होने से।

अन्वयार्थ—जिन श्रुतियों में द्यौलोक और भूलोक तथा अन्तरिक्ष में प्राण और इन्द्रियों में माला के मणियों में डोरे की भांति ओतप्रोत लिखा है वहां परमात्मा ही उन का आधार है जिस प्रकार आकाश घर के भीतर रहने वाले पदार्थों में बाहर दिखलाई देता है इसी प्रकार परमात्मा सब लोगों के भीतर और बाहर है।

प्रश्न—जब कि वहां उस के रहने का स्थान तक लिखा है उस को अमृत का पुल बतलाया है इस लिये परमात्मा नहीं हो सकता क्योंकि एक देशीय होता है इस लिये कोई अन्य पदार्थ लेना चाहिये?

उत्तर—अन्य कौन सा पदार्थ इन सब का आधार है। यदि कहो कि प्रकृति तो हो नहीं सकती क्योंकि वहां आत्म शब्द बतलाया है और प्रकृति किसी की आत्मा हो भी नहीं सकती। यदि कहो कि जीवात्मा तो वह भी नहीं हो सकता क्योंकि एक देशी होने से, अपने बड़े लोकों में जिन में असंख्य जीव रहते हैं अकेला कैसे रह सकता है वहां ऐसा लेख है कि उस एक को हमें जानो अतः सब में रहने योग्य एक आत्मा परमात्मा ही है उस को सब का आधार कह सकते हैं।

प्रश्न—यदि जीव जाति को एक मान कर लिखा हो जैसा कि व्यवहार में है कि जाति के लिये एकवचन शब्द प्रयोग होता है तो जीवात्मा एक देशी है और इन में रहने योग्य भी है?

उत्तर—यतः यदि जीव जाति को एक आत्मा शब्द से लोग जानने लगें तो जानने वाला कौन रहेगा! अतः इस शब्द का अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिये और सेतु (पुल) के उदाहरण से उस को एक देशीय नहीं कहा है किन्तु पार करने के लिये वही है इस लिये उदाहरण जिस भाग का दिया जाता है उस का वही अर्थ लेना योग्य है। इस में हेतु देते हैं :—

मुक्तोपसृप्यं व्यपदेशात् ॥२॥

पदार्थ—'मुक्तोपसृप्यम्' मुक्त में उस की दूरी का। 'व्यपदेशात्' उपदेश होने से।

अन्वयार्थ—प्रकृति उपासना के योग्य नहीं क्योंकि मुक्ति में उस की दूरी का उपदेश किया गया है। जब तक जीव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक मुक्ति नहीं हो सकती इस लिये लोकों के रहने का स्थान उपासना के योग्य एक ब्रह्म ही को समझना चाहिये।

प्रश्न—मुक्ति में प्रकृति का त्याग क्यों बतलाया है?

उत्तर—क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ है और प्रकृति के कार्य असंख्य रूप में जिन को अल्पज्ञ जीवात्मा नहीं जानता और अल्पज्ञता से अपने को शरीरी मान कर किसी वस्तु को शरीर के लिये लाभदायक समझी जाती है अपने लिये लाभदायक मान कर उस में राग अर्थात् कामना उत्पन्न करता है और जिस को शरीर के लिये हानिकारक समझता है उस से द्वेष करता है यतः यथार्थ में कोई जन्य वस्तु जीव के लिये लाभदायक अथवा हानिकारक नहीं इस लिये जीव का हानिकारक अथवा लाभदायक समझना अविद्या है और अविद्या का कारण प्रकृति के कार्यों के साथ सम्बन्ध है इस लिये जब तक प्रकृति के कार्यों से सम्बन्ध है तब तक अविद्या ही में रहेगा और जब तक अविद्या रहेगी तब तक मुक्ति हो नहीं सकती इस लिये मुक्ति में प्रकृति की उपासना का त्याग अनिवार्य है।

प्रश्न—क्या मुक्ति में राग द्वेष और कर्म दोष रहते हैं? अथवा नहीं?

उत्तर—उपनिषद् ने बतलाया है कि इस समय अनित्य करण की गांठ टूट जाती है सम्पूर्ण शङ्कायें नाश हो जाती हैं और समस्त कर्म भी नाश हो जाते हैं। मुक्ति की दशा में तब जीव परमात्मा का दर्शन करता है।

प्रश्न—क्या मुक्ति में कर्मों का नाश हो जाता है ? गीता में लिखा है कि किये हुये कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं।

उत्तर—जब तक जीवात्मा को यथार्थ ज्ञान और परमात्मा के दर्शन नहीं होते तब तक तो किये हुये कर्म अवश्य भोगने पड़ते हैं परन्तु जिस समय मुक्ति में अनित्य-करण की गांठ कि जिस में पाप तथा पुण्य के संस्कार थे टूट जाते हैं तो पाप और पुण्य भी उसी अनित्य-करण के साथ ही नाश हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक जीव की कर्म-सूची उस के मन के साथ रहती है।

प्रश्न—यदि पापों के नाश होने को आप मानते हैं तो बहुत से मनुष्य पाप करने से भी भय न करेंगे ?

उत्तर—श्रुति में स्पष्ट शब्दों में पाप कर्मों का क्षय होना माना गया है और प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य दिवाला निकाल बैठता है तो वह उस लेन देन से चुक जाता है क्योंकि वह दोनों में अहङ्कार नहीं रखता उसे लेने व देने से उपराम हो जाता है। और श्रुति भी कहती है कि जब सम्पूर्ण कामनायें उस की मन में स्थिर होती हैं उन से छुटकारा हो जाता है उस के पश्चात् यह बार-म्बार जन्म लेने वाला और मरने वाला जीव अमृत होता है उस दशा में ब्रह्म के आनन्द को लेता है

प्रश्न—यतः समस्त द्यु लोक इत्यादि का उपादान कारण प्रकृति है इस लिये वही इन लोकों के रहने का स्थान हो सकता है ऐसा अनुमान ठीक है ?

उत्तर—नानुमानमतच्छब्दात् ॥४॥

पदार्थ—'न' नहीं। 'अनुमानम्' अनुमान। 'अतत्' उस से। 'शब्दात्' वेद और श्रुतियों की शिक्षा होने से।

अन्वयार्थ—यतः यह बात वेद से प्रकट है कि प्रकृति ब्रह्म के एक पाद में रहती है और यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु का आधार छोटा नहीं होता किन्तु बड़ा ही होता है इस लिये सब से बड़ा जो ब्रह्म है सब का आधार है ऐसा कोई वेद वाक्य नहीं कि जिस में प्रकृति का आधार कहा गया हो जो सिवाय परमात्मा के हो भी नहीं सकता कि प्रकृति इन लोकों का आयतन (घर) है जब कि वहां केवल एक ही को जानने के योग्य बतलाया है जो केवल परमात्मा के हो ही नहीं सकता तब अनुमान किस प्रकार किया जा सकता है क्योंकि उस के लिये हेतु और दृष्टान्त कोई नहीं मिलता। जब कि वहां सर्वज्ञ सब का ज्ञाता

सब का आधार बतलाया है ऐसी दशा में ज्ञान से रहित प्रकृति का ग्रहण कैसे हो सकता है।

प्रश्न—क्या जीव का भी ग्रहण नहीं हो सकता ?

उत्तर— प्राणभिच्च ॥४॥

पदार्थ—'प्राणभित्' जीवात्मा। 'च' भी।

अन्वयार्थ—जिस प्रकार प्रकृति सर्वज्ञ न होने से सम्पूर्ण जगत के लोकों का निमित्त-कारण अथवा रहने का स्थान नहीं हो सकता। इसी प्रकार अल्पज्ञ जीवात्मा भी नहीं हो सकता। यद्यपि वह ज्ञान वाला है परन्तु एक देशी होने से उस का ज्ञान भी एक-देशी ही है वह किसी दशा में सर्वज्ञ नहीं हो सकता अतः जीवात्मा भी जगत का निमित्त-कारण और आधार नहीं हो सकता यह केवल परमात्मा ही के कारण हैं।

प्रश्न—क्या एक देशी वस्तु में सर्व देशी गुण नहीं आ सकते हम तो देखते हैं कि छोटे से बीज में एक बहुत बड़ा वृक्ष बन सकने की शक्ति रहती है ?

उत्तर—इस का कहीं उदाहरण नहीं मिलता कि एक देशी वस्तु में सर्व देशी गुण हो सकते हैं। बीज में वृक्ष बनने

का सामर्थ्य है परन्तु बीज ही एक देशी है और उस से उत्पन्न वृक्ष भी एक देशी ही रहेगा।

प्रश्न—क्या परमात्मा जो सर्व शक्तिमान है एक-देशी वस्तु में सर्व देशी गुण नहीं रख सकता?

उत्तर—परमात्मा अपने अनादि नियम को तोड़ नहीं सकता क्योंकि वह सर्वज्ञ और स्वतंत्र कर्त्ता है नियमों को वह भङ्ग करता है जो अल्पज्ञ हो अथवा परवश हो। यदि कोई मनुष्य अल्पज्ञता से मिथ्या नियम बनाता है तो उस को हानि प्रतीत होने पर उस में परिवर्त्तन कर देता है अथवा जब कि कोई पराधीन होता है तो अपने सत्य नियमों को भी फेर देता है किन्तु परमात्मा के तो सम्पूर्ण नियम अटल हैं और जीव अपने नियमों में परिवर्त्तन करता रहता है।

प्रश्न—जब जीव उपाधि से रहित होकर ब्रह्म बन जावेगा तब सर्वज्ञ हो जावेगा?

उत्तर— भेदव्यपदेशात् ॥५॥

पदार्थ—'भेद' भिन्नता अथवा प्रथकत्व। 'व्यप-देशात्' बतलाये जाने से।

अन्वयार्थ—जीव किसी भी दशा में सर्वज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति ने जीव और ब्रह्म का भेद बतलाया है। जो मनुष्य जीव और ब्रह्म का भेद उपाधि से मानते हैं

वह वहुत ही उलटे मार्ग पर चल रहे हैं क्योंकि श्रुति ने वतलाया है कि जीव के भीतर ब्रह्म है कि जिस को जीव नहीं जानता। जब कि जीव में ब्रह्म विद्यमान है ब्रह्म आत्मा और जीव उसका शरीर है जिस प्रकार शरीर को आत्मा मानना अविद्या है इसी प्रकार जीव को ब्रह्म अथवा ब्रह्म को जीव मानना महा अविद्या है।

प्रश्न—यदि जीव और ब्रह्म का भेद माना जावेगा तो अद्वैत सिद्धि आदि समस्त ग्रन्थ मिथ्या हो जावेंगे और वह श्रुतियां जो अभेद को वतलाती हैं मिथ्या हो जावेंगी?

उत्तर—अभेद को बतलाने वाली श्रुतियां मिथ्या नहीं हो सकतीं क्योंकि भेद का अर्थ दूरी भी है। अभेद का मन से सम्बन्ध है दूरी का नहीं। यतः परमात्मा से कोई वस्तु दूर नहीं। यतः परमात्मा का कोई शरीर नहीं और न कोई उस के समान है इस कारण वह अपने गुण, कर्म और स्वभाव में अद्वैत है। इस पर दूसरा हेतु देते हैं:—

प्रकरणात् ॥६॥

पदार्थ—'प्रकरणात्' विषय से भी ऐसा ही पाया जाता है।

अन्वयार्थ—यतः उस प्रकरण में यह प्रश्न है कि जिस एक के जानने से सब का ज्ञान हो जावे। परन्तु

जीव और प्रकृति के जानने से सब का ज्ञान नहीं हो सकता इस लिये न तो जीव अर्थ लिया जा सकता है न प्रकृति ही।

प्रश्न—जिस प्रकार सुवर्ण के बने हुये समस्त आभूषणों का ज्ञान सोने के जानने से हो जाता है इसी प्रकार प्रकृति के जानने से समस्त जगत के पदार्थों का ज्ञान हो जावेगा ?

उत्तर—वहां पर यह प्रतिज्ञा है कि समस्त पदार्थों का ज्ञान हो। परन्तु प्रकृति के जानने से कार्य वस्तुओं का तो ज्ञान हो जावेगा परन्तु कारण जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकेगा। जैसे सोने के जानने से उस के कार्य का ज्ञान हो सकता है परन्तु बनाने वाले सुनार का ज्ञान नहीं होता इस लिये प्रकरण से स्पष्ट प्रकट है कि केवल ब्रह्म के जानने से ही ज्ञान होता है इस लिये वहां ब्रह्म ही अर्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—एक समान ब्रह्म के जान लेने से सम्पूर्ण का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—इस शरीर में पांच कोष हैं और आत्मा के भीतर ब्रह्म है प्रकृति से ब्रह्म सूक्ष्म है इस लिये प्रकृति के भीतर ब्रह्म है। इस के अतिरिक्त जीव से भी ब्रह्म सूक्ष्म है इस लिये जीव में भी ब्रह्म है। यथा किसी घर में कोई वस्तु है तो उस के देखने के लिये जो जायगा उस को प्रथम घर का ज्ञान होगा फिर भीतर के पदार्थों का। इसी प्रकार ब्रह्म को

जानने के लिये तीनों शरीर, पांच कोष जीवात्मा आदि सब को पार करना होगा। इस लिये सब का ज्ञान हो जावेगा इस पर यह हेतु देते हैं :—

स्थित्यदनाभ्याञ्च ॥७॥

पदार्थ—'स्थित्यदनाभ्याम्' भोगने वाला साक्षी होने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—जीव ब्रह्म का भेद मन्त्रों में स्पष्ट रीति पर दिखलाया है एक को तो कर्मों का भोगने वाला कहा है। दूसरे को भीतर रहते हुये फल से रहित केवल साक्षी कहा है। इस से स्पष्ट है कि श्रुतियों ने जीव ब्रह्म का भेद निश्चय करके द्युलोक, भूलोक आदि का आधार ब्रह्म को ही माना है और यही समस्त श्रुतियों का भाव भी है। अब आगे अन्य विषय का आरम्भ किया जाता है :—

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

पदार्थ—'भूमा' परमात्मा है। 'सम्प्रसादात्' सम्पूर्ण जगत में व्यापक होने से। 'अध्युपदेशात्' सब का आधार कथन किये जाने से।

अन्वयार्थ—परमात्मा का नाम भूमा है क्योंकि वह सम्पूर्ण संसार में फैला हुआ अर्थात् व्यापक और सब पदार्थों के भीतर विद्यमान है।

प्रश्न—भूमा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहां न अन्य को देखे न और को सुने और न कोई जाने वह भूमा है। यतः परमात्मा के भीतर सब वस्तुयें हैं और वह सब के भीतर व्यापक है इस लिये जहां जाकर देखो वहीं परमात्मा विद्यमान है। कोई पहाड़ों की ऊंची से ऊंची चोटी, अंधेरी से अंधेरी गुफा और समुद्र की गहरी से गहरी गहराई परमात्मा से रिक्त नहीं है। कोई छोटे से छोटा जीव भी परमात्मा से रहित नहीं इस लिये परमात्मा भूमा है और जिन श्रुतियों में भूमा की उपासना का उपदेश किया है उस का यह अर्थ है कि परमात्मा ही की उपासना करनी चाहिये।

प्रश्न—क्या जीव का नाम भूमा नहीं हो सकता ?

उत्तर—जीव अनन्त है इस लिये जो जीव एक शरीर में है दूसरे शरीर में वह नहीं, किन्तु दूसरा ही है इस लिये जीव में भूमा के वह गुण नहीं पाये जाते इस के अतिरिक्त जीव अल्पज्ञ है क्योंकि अल्प है (ब्रह्म की अपेक्षा-अनुवादक)

प्रश्न—क्या प्राणों को भूमा नहीं कह सकते क्योंकि वह अधिक हैं और सम्पूर्ण जगत में व्यापक भी हैं ?

उत्तर—यतः बतलाया गया है कि आत्मा को जानने वाला दुखों से तर जाता है और उस प्रकरण ही में भूमा की उपासना लिखी है इस लिये परमात्मा ही भूमा है प्राण नहीं? भूमा का अर्थ एक होकर सम्पूर्ण जगत में व्यापक होने वाला है जाति से भूमा को व्यापक नहीं कह सकते।

प्रश्न—क्या प्राण भूमा नहीं जब कि प्राणों के नियम जानने से मनुष्य पार हो जाता है अर्थात् जो मनुष्य प्राणायाम से मन को रोकता है उसे सुख मिलता है और भूमा का लक्षण यह भी किया है कि भूमा में ही सुख है?

उत्तर—प्राणों के अवरोध (निरोध) से सुख है न कि प्राणों की क्रिया से इस लिये भूमा प्राणों से पृथक् है जिस में प्राणों को रोक कर जिस स्थान पर समाधि है वहीं सुख मिलता है। सुख रूप परमात्मा है। भूमा में प्राणों का रोकना आनन्द का साधन हो सकता है परन्तु प्राण आनन्द स्वरूप नहीं यदि प्राण आनन्द स्वरूप होते तो कोई प्राणी दुख न पाता। इस पर और हेतु देते हैं कि परमात्मा ही भूमा है अर्थात् आनन्द स्वरूप है :—

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

पदार्थ—'धर्मोपपत्तेः' धर्म पाये जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—जो लक्षण भूमा के बतलाये गये हैं वह केवल परमात्मा में हैं क्योंकि परमात्मा में नैमित्तिक

ज्ञान का अभाव है। नैमित्तिक ज्ञान जीव को होता है। परमात्मा को नहीं होता और वहां बतलाया गया है कि जहां दूसरे को न देखे, न जाने, न सुने, बस यह गुण परमात्मा में ही हैं। प्राणों में ज्ञान का नितान्त अभाव है। जीवात्मा में नित्तिक तथा नैमित्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान है। इस लिये न तो प्राणों में भूमा का धर्म पाया जाता है और न जीव में ही, केवल परमात्मा में नित्तिक ज्ञान के होने और नैमित्तिक ज्ञान के न होने से भूमा का गुण पाया जाता है इस लिये परमात्मा ही भूमा है। इस के सिवाय भूमा को आनन्द स्वरूप बतलाया है। जीवात्मा आनन्द स्वरूप नहीं इस पर पूर्व विचार किया जा चुका है क्योंकि उसे परमात्मा की उपासना से आनन्द मिलता है। प्राण भी आनन्द स्वरूप नहीं केवल परमात्मा ही आनन्द स्वरूप सिद्ध होता है इस पर पूर्व विचार हो चुका है इस लिये भूमा परमात्मा ही है।

प्रश्न—उपनिषदों में जहां बतलाया गया है कि अक्षर अर्थात् नाश रहित, सब में माला की मणियों में तागे के समान ओतप्रोत है। वहां अक्षर का क्या अर्थ है?

उत्तर—अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

पदार्थ—'अक्षरम्' परमात्मा ही अक्षर है। 'अम्बरान्तधृतेः' पृथ्वी से लेकर आकाश तक सब को धारण करने वाला होने से।

अन्वयार्थ—यतः पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत को धारण किये हुये है और उसी के आश्रित सब जगत क्रिया कर रहा है इस लिये अक्षर से यहां तात्पर्य परमात्मा से ही है।

प्रश्न—अक्षर नाम दोनों का है और वर्ण प्रत्येक शब्द के भीतर माला की मणियों के समान विद्यमान है इस लिये वर्णों को ही उस स्थान पर अक्षर मानना ठीक है?

उत्तर—अक्षरों से ही सब शब्द बने हुये हैं अर्थात् शब्द रूपी जो माला है उस के गुरिये वर्ण हैं परन्तु वह किसी में पिरोये हुये हैं यह सिद्ध नहीं होता। इस लिये वर्णों का अर्थ उस स्थान पर अक्षर शब्द से नहीं किन्तु परमात्मा ही अक्षर शब्द है क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के भीतर व्यापक होने से जिस प्रकार धागे में माला के मनकों को धारण करता है कि जिस से वह कण्ठ में अपने २ स्थानों में अवस्थित रहें इसी प्रकार परमात्मा सब पदार्थों को यथा स्थान धारण किये हुये है।

प्रश्न—पृथ्वी से लेकर आकाश पर्य्यन्त धारण करने वाली प्रकृति भी है इस में केवल ब्रह्म को ही क्यों समझें ?

उत्तर—**सा च प्रशासनात् ॥११॥**

पदार्थ—'सा' परमात्मा । 'च' है । 'प्रशासनात्' नियम में चलाने से ।

अन्वयार्थ—यतः यह प्रमाणित हो चुका है कि प्रकृति नियम में चलने वाली तो हो सकती है परन्तु चलाने वाली नहीं हो सकती और अक्षर के लक्षणों में यह भी बतलाया गया है कि हे गार्गी ! इसी अक्षर के नियम में सूर्य और चन्द्र स्थित हैं नियम में व्यवस्थित रखना सर्वज्ञ परमात्मा का ही काम है। ज्ञान से रहित प्रकृति का काम नहीं और न अल्पज्ञ जीव का काम है।

प्रश्न—सूर्य और चन्द्रमा तो अपनी आकर्षण शक्ति से ठहरे हुये हैं इस में परमात्मा का कोई हस्तक्षेप नहीं।

उत्तर—यदि कोई मनुष्य घड़ी को चलाता हुआ देख कर यह कहे कि घड़ी के अवयव एक दूसरे के आकर्षण से चल रहे हैं तो इस को केवल मूर्ख मनुष्य ही मान सकता है परन्तु बुद्धिमान मनुष्य जानता है कि इस घड़ी के भीतर घड़ी

बनाने वाले ने यह नियम रक्खा है कि उस में ताली देने से कार्य चल रहा है इसी प्रकार यदि इस समय सूर्य और चन्द्रमा तथा पृथ्वी आदि आकर्षण शक्ति से भ्रमण कर रहे हैं परन्तु यह सब नियम परमात्मा ने ही चालू किये हैं इस लिये वही इन सब का सक्रिय अर्थात् चलाने वाला है इस पर अन्य हेतु देते हैं कि इस स्थल पर अक्षर ब्रह्म का ही नाम है।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

पदार्थ—'अन्यभावः' दूसरी सत्तायें। 'व्यावृत्तेः' पृथक् किये जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त धारण करने का गुण परमात्मा को अन्य सत्ताओं से पृथक् करने वाला है। इस प्रकार की अन्य कोई सत्ता विद्यमान नहीं कि जो पृथ्वी से लेकर आकाश तक व्यापक हो कर इन को नियम में चला सके इस लिये यह दोनों सूत्र परमात्मा को अन्य सत्ताओं से भिन्न करके इस बात को प्रमाणित करते हैं कि अक्षर ब्रह्म ही का नाम है ब्रह्म से पृथक् अन्य कोई पदार्थ इस स्थान पर अक्षर नहीं समझा जा सकती। यद्यपि अन्यत्र अक्षर शब्द के और भी अर्थ हैं परन्तु यहां केवल परमात्मा ही अर्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—जब कि उपादान कारण के आश्रय कार्य की सत्ता है यदि कारण न रहे तो कार्य रह नहीं सकता इस लिये दोनों सूत्रों में प्रकृति अर्थ लेने में क्या हानि है ?

उत्तर—श्रुति ने प्रकृति से इस सत्ता को प्रथक् वर्णन किया है क्योंकि बतलाया है कि हे गार्गी ! वह अक्षर देखने वालों से देखा हुआ नहीं। सुनने वालों से सुना हुआ नहीं, विचार करने वालों से विचार किया हुआ नहीं और जानने वालों से जाना हुआ नहीं। इन बातों से प्रगट होता है कि अक्षर परमात्मा है ऐसी कोई दूसरी सत्ता नहीं कि जिस को देखने सुनने तथा विचार करने और जानने के लिये न देख सकें न विचार कर सकें और न जान सकें।

प्रश्न—प्रश्नोपनिषद् में जो सत्य काम को उपदेश करते हुये जो दो प्रकार का ब्रह्म अर्थात् एक अपर ब्रह्म कि जिस में "ओङ्कार" के द्वारा परब्रह्म का ध्यान लिखा है उस में परब्रह्म परमात्मा से ही तात्पर्य है अथवा "ओङ्कार" शब्द से अथवा सगुण ब्रह्म से ?

उत्तर—ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः ॥१३॥

पदार्थ—'ईक्षति कर्म' ज्ञान के अनुकूल कर्म के। 'व्यपदेशात्' उपदेश होने से। 'सः' वह।

अन्वयार्थ—इस स्थान पर भी ज्ञान के अनुकूल कर्म होने से परमात्मा ही अर्थ लेना चाहिये।

क्योंकि ब्रह्म दो प्रकार का है एक शब्द ब्रह्म अर्थात् वैदिक ओङ्कार शब्द दूसरा परमात्मा जो ओङ्कार शब्द का अर्थ है। शब्द के भीतर ज्ञान के अनुकूल कर्म करने की शक्ति नहीं पाई जाती और वहां ज्ञान के अनुकूल करने वाले का ध्यान बतलाया है इस लिये ओङ्कार शब्द का जो अर्थ है इसी का ध्यान करना चाहिये।

प्रश्न—ध्यान तो साकार का हो सकता है। ओङ्कार का अर्थ निराकार है इस लिये उस का ध्यान हो ही नहीं सकता इस लिये वहां शब्द ब्रह्म अर्थात् ओङ्कार शब्द है यही अर्थ लेना चाहिये क्योंकि वह अकार, उकार और मकार, तीनों अक्षरों से मिश्रित होने से साकार अर्थात् ध्यान करने के योग्य है।

उत्तर—यह प्रतिज्ञा कि ध्यान साकार का ही होता है यह उन मनुष्यों का विचार है कि जो ध्यान के लक्षण से अभिज्ञ हैं क्योंकि ध्यान का लक्षण महर्षि कपिल ने यह किया है कि जब मन विषय रहित हो उस दशा का नाम ध्यान है* और साकार वस्तु इन्द्रियों का विषय होती है इस लिये जो विषय है उस में लगा हुआ मन विषयों से भिन्न किस प्रकार हो सकता है इस लिये ध्यान तो निराकार का ही होता है।

प्रश्न—योग दर्शन में लिखा है कि जो पदार्थ चित्त के अनुकूल हो उसी में ध्यान करे*।

---

* ध्यानं निर्विषयं मनः।

उत्तर—उस के अगले सूत्र में ही लिखा है कि या तो सब से सूक्ष्म जान कर अथवा सब से महान् विचार कर के मन विषय में आ जाता है सारांश यह कि परमात्मा बड़ों से बड़ा विचार करके मन विषय में आ जाता है। इस का यह भावार्थ है कि परमात्मा बड़ा से बड़ा और सूक्ष्म से सूक्ष्म है इस लिये यदि चित्त बड़े की ओर लगता है तो उस की ओर लगाव है यदि चित्त सूक्ष्म की ओर चलता है तो उसी ओर मन चलेगा। यह मन का स्वभाव ही है कि वह जिस वस्तु को देखने का चाव करता है उस का अन्त जाने बिना नहीं लौटना चाहता और सीमा ज्ञान के अनन्तर ठहरता नहीं इस लिये अन्तवन्त (सीमावाले) पदार्थों में तो मन स्थिर नहीं होता क्योंकि उन की सीमा जान कर चल देता है केवल परमात्मा ही में मन स्थित हो सकता है क्योंकि मन का स्वाभाव तो जान कर लौटना है और परमात्मा के गुण अनन्त हैं जिस के लिये जब मन परमात्मा में लगता है तो वह अन्त करके लौटता है और परमात्मा के गुण अनन्त हैं उस का अन्त आता नहीं जिस से वह लौट सके इस लिये वहीं थक कर रह जाता है उस दशा का नाम "विज्ञान" है।

प्रश्न—मन उस वस्तु को जानता है कि जो इन्द्रियों के द्वारा जानी जाती है फिर जो परमात्मा इन्द्रियों से नहीं जाता उस में मन किस प्रकार लग सकता है ?

उत्तर—यह नियम नहीं कि मन अनुभवगम्य को ही जानता है किन्तु सुख और दुःख कि जिन का अनुभव इन्द्रियों द्वारा नहीं होता उन को भी मन जानता है।

प्रश्न—सुख और दुख का कारण बाह्य इन्द्रियों से अनुभव करके मन उन को जान लेता है जहां कारण होवे ही नहीं वहां मन कैसे जान सकता है ?

उत्तर—मन जानने वाला नहीं किन्तु ज्ञान का कारण अर्थात् जानने का साधन है और यदि यह नियम हो कि साकार ही साकार को जान सके और निराकार निराकार को तो साकार मन और इन्द्रियां परमात्मा के ज्ञान का साधन न होते और न निराकार जीवात्मा को साकार वस्तु का ज्ञान हो सके।

प्रश्न—ज्ञान के अनुकूल तो जीव भी काम करता है तो उस से परमात्मा का अर्थ लेना क्या आवश्यक है क्योंकि स्वाभाविक क्रिया करता है ?

उत्तर—जीव के अल्पज्ञ होने से उस का काम ज्ञान पूर्वक नहीं होता यदि जीव के काम ज्ञान पूर्वक होते तो उसे कभी असफलता न होती और दुख का तो नाम ही न होता। जीव के ज्ञान और अज्ञान दोनों मिले रहते हैं केवल ज्ञान स्वरूप परमात्मा के काम ही ज्ञान के अनुकूल होते हैं इस लिये परम पुरुष से ओंकार शब्द नहीं लेना चाहिये किन्तु ओंकार शब्द से जिस परब्रह्म का ज्ञान प्रगट होता है वही लेना चाहिये।

प्रश्न—छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि इस ब्रह्मपुर में एक दहर नामक कमल है दहर इस भीतर के आकाश में है इस में जो अन्तम है उस के जानने की इच्छा कर। इस

की खोज कर। सो यह जो दहर बतलाया है। क्या वह आकाश का नाम है अथवा परमात्मा का या जीवात्मा का नाम है?

उत्तर—दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

पदार्थ—'दहर' परमात्मा है। 'उत्तरेभ्यः' का हेतु है।

अन्वयार्थ—आगे की युक्तियों से सिद्ध है कि दहर का अर्थ परमात्मा ही है आकाश और जीवात्मा का नहीं।

प्रश्न—इस श्रुति में जो ब्रह्मपुर बतलाया गया है उस का क्या तात्पर्य है। क्योंकि ब्रह्म का पुर हो नहीं सकता। इस लिये कि पुर के एक देश में राजा रहा करता है यदि ब्रह्मपुर का अर्थ शरीर लिया जावे तो ठीक नहीं। क्योंकि शरीर के एक देश में ब्रह्म रह नहीं सकता वह सम्पूर्ण संसार में व्यापक ही नहीं किन्तु संसार में चौगुना है इस लिये यहां पर जिस का पुर है वह जीव ही का बोधक है?

उत्तर—निस्सन्देह ब्रह्म ही सर्वव्यापक है और संसार उस के एक देश ही में रहता है परन्तु ब्रह्मपुर का अर्थ मनुष्य शरीर है क्योंकि जिस प्रकार पुर के एक देश में राजा रहा करता है उसी प्रकार मनुष्य शरीर में "हृद" का आकाश है

इस में ही परमात्मा के दर्शन होते हैं परमात्मा के देखने का स्थान मनुष्य शरीर का नाम ब्रह्मपुर है।

प्रश्न—ब्रह्म का दर्शन और किसी स्थान पर हो नहीं सकता केवल उस के देखने के लिये एक नियत स्थान है।

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब प्रत्येक स्थान पर पड़ता है परन्तु देखने के लिये केवल दर्पण अथवा पानी की ही आवश्यकता है इसी प्रकार ब्रह्म के व्यापक होने पर भी जीव उस को मन के दर्पण के भीतर ही देख सकता है इस लिये शरीर का नाम ब्रह्मपुर रक्खा गया है।

प्रश्न—यहां आकाश से ब्रह्म से तात्पर्य है अथवा भूताकाश से ?

उत्तर—यतः श्रुति ने बतलाया है कि जितना बड़ा यह आकाश है उतना ही बड़ा "हृद" है भीतर आकाश है अब यदि हृदयाकाश का अर्थ भूताकाश होता तो उस का उदाहरण आकाश से न दिया जाता क्योंकि उपमा जिस के साथ दी जाती है वह स्वरूप से भिन्न होता है और दोनों एक नहीं होते इस लिये यहां दहराकाश का अर्थ परमात्मा है वही जानने योग्य है और खोजने योग्य है।

प्रश्न—क्या एक ही आकाश में भीतर और बाहर के भेद के कारण दो मान कर उपमा नहीं दे सकते, यदि दी जा सकती तो वह केवल भूताकाश से दी जा सकती थी ?

उत्तर—यतः भीतर का आकाश बहुत एक देशी है और बाहर बहुत बड़ा है इस लिये भीतर बाहर के भेद से

उपाधि होना सिद्ध नहीं होती क्योंकि उपमा वहां दी जाती है कि जहां उपमेय होना आवश्यक है जो भीतर और बाहर के आकाश में पाई नहीं जाती इस लिये भूताकाश नहीं मान सकते किन्तु ब्रह्म ही मानना पड़ता है।

प्रश्न—जिन आगे के हेतुओं के कारण दहर ब्रह्म है वह कौन से हैं ?

उत्तर—**गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ॥१५॥**

पदार्थ—'गति' ज्ञान (चलना और प्राप्ति) होना। 'शब्दाभ्याम्' शब्द प्रमाण से। 'तथा' ऐसे ही। 'हि' निश्चय से। 'दृष्टं लिङ्गम्' प्रगट है चिह्न से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—प्रति दिन जीव सोने की दशा में अपने भीतर उस परमात्मा को प्राप्त करके सुख भोगते हैं। यतः इस समय परमात्मा से सुख लेते हुये भी अज्ञानता के कारण उस के स्वरूप को नहीं जानते इस लिये फिर जाग उठते हैं इस जाने आने से ज्ञात होता है कि भीतर ब्रह्म है जिस को जानने और अन्वेषण (खोज) करने की आवश्यकता है। यदि ज्ञान होता तो उस सुख को प्राप्त करके जीव फिर

दुखों की ओर न लौटते। इस के अतिरिक्त जीव के भीतर जो आकाश है उस का नाम ब्रह्म लोक प्रसिद्ध है और सम्पूर्ण जगत को धारण करने वाला बतलाया है जो ब्रह्म का प्रत्यक्ष चिह्न है क्योंकि समस्त वस्तुयें तो जगत के भीतर सम्मिलित हैं उन को धारण करने वाला ब्रह्म ही हो सकता है।

प्रश्न— क्या ब्रह्म लोक जीव के भीतर वाले आकाश का नाम है? क्या जीव के भीतर भी आकाश है?

उत्तर—जीव के भीतर के आकाश का अर्थ उस आकाश से है जो हृदय के भीतर है जहां मन के द्वारा जीवात्मा ब्रह्म को देख सकता है इस लिये ब्रह्मलोक उस स्थान का नाम हो सकता है जहां ब्रह्म का दर्शन हो। यतः हृदयाकाश में जीव ब्रह्म का दर्शन करता है इस लिये ब्रह्मलोक कहने में कोई दोष नहीं और अन्य भी टीकाकारों ने ऐसा ही माना है।

प्रश्न—वह प्रत्यक्ष लिङ्ग कौन सा है कि जिस से यह निश्चय होता है कि भीतर के आकाश का तात्पर्य ब्रह्म ही है।

उत्तर— धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥

पदार्थ—'धृतेः' धारण करने वाला होने से। 'च' और। 'महिम्नः' महिमा के। 'अस्य' उस की।

'अस्मिन्' उस के भीतर। 'न' नहीं। 'उपलब्धेः' पाये जाने से।

अन्वयार्थ—यतः आकाश के भीतर उस परमात्मा का यश अर्थात् वह गुण विद्यमान नहीं। क्योंकि परमात्मा तो सब जगत का धारण करने वाला है आकाश धारण करने वाला नहीं। परमात्मा जगत का उत्पादक है। आकाश जगत को उत्पन्न करने वाला नहीं। परमात्मा से जीवात्मा आनन्द लाभ करता है आकाश से जीव को आनन्द नहीं मिल सकता इस प्रकार जो गुण श्रुति ने उस दहर के बतलाये हैं वह भूताकाश के भीतर विद्यमान नहीं। इस लिये इस का भाव परमात्म अर्थ परक ही है। और उन लक्षणों को यदि दूसरे स्थानों पर खोज करें तो मिल ही नहीं सकते जैसा कि पूर्व सिद्ध कर चुके है कि जगत का उत्पादक, धारणकर्त्ता और आनन्द स्वरूप इत्यादि गुणों वाला कोई अन्य नहीं केवल परमात्मा ही है और आचार्य्य गण ऐसा ही मानते हैं इस पर और हेतु देते हैं:—

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

पदार्थ—'प्रसिद्धेः' यह प्रगट होने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः आकाश परमात्मा का भी प्रसिद्ध नाम है। जैसा कि अनेक श्रुतियों से सिद्ध हो चुका है। जहां लिखा है कि समस्त भूताकाश से ही उत्पन्न होते हैं इस लिये दहर आकाश से परमात्मा अर्थ लेना कोई अप्रसिद्ध अर्थ नहीं। वह पूर्व भी भूत जगत बतलाया जा चुका है इस लिये दहर का अर्थ ब्रह्म ही है।

प्रश्न—यदि श्रुतियों से प्रसिद्ध अर्थ ही लेना चाहिये तो जीव का भी अर्थ हो सकता है क्योंकि जैसे कहा है कि यह सब जो भले प्रकार फैला हुआ है उस शरीर से प्रथक् परमात्मा की ज्योति प्राप्त करके अपने मुख्य स्वरूप को प्राप्त होता है यही आत्मा है ?

उत्तर—**इतरपरामर्शात् स इतिचेन्ना-सम्भवात् ॥१८॥**

पदार्थ—'इतरपरामर्शात्' इन लक्षणों से दूसरे परमात्मा का विचार होने से। 'सः' वह जो दहर है। 'इतिचेत्' यदि ऐसी आशङ्का हो। 'न' नहीं। 'असम्भवात्' असम्भव होने से।

अन्वयार्थ—यद्यपि जीव को आत्मा शब्द से बतलाया गया है इस को भी सिद्ध स्वरूप कहा

गया है परन्तु वह एक देशी होने से दहराकाश के अर्थों में नहीं लिया जा सकता क्योंकि उस का जगत कर्त्ता इत्यादि होना असम्भव है ।

प्रश्न—जीव के एक देशी होने का क्या प्रमाण है हम तो जीव को विभु मानते है ?

उत्तर—शरीर को छोड कर जाना और अन्य शरीर को प्राप्त होना यह सर्वव्यापक के धर्म नहीं हो सकते । एक देशी वस्तु ही आया जाया करती है । यतः जीव अनेक (असंख्य) हैं एक नहीं इस लिये वह विभु नहीं हो सकते यदि एक जीव होता तो उस के निकल जाने से शरीर का अन्त कैसे हो सकता था ।

प्रश्न—क्या महर्षि कणाद ने जो जीवात्मा को विभु माना है असत्य है ?

उत्तर—महर्षि कणाद ने जो कुछ लिखा है वह ठीक है क्योंकि वहां आत्म शब्द से दोनों (जीव और ब्रह्म) का ग्रहण किया है । जीवात्मा और परमात्मा में परमात्मा तो स्वरूप से विभु है और जीव आत्मा जाति से विभु है ।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य बुद्धि उपाधि ही से पृथक् चेतन का नाम जीव मानते हैं ?

उत्तर—यतः बुद्धि गुण है जो किसी द्रव्य को पृथक् नहीं कर सकती इस लिये यह सिद्धान्त ठीक नहीं ।

प्रश्न—सांख्यशास्त्र में बुद्धि को प्रकृति का कार्य मान कर उसे द्रव्य माना है ?

उत्तर—यह कथन भी सत्य नहीं, सांख्यशास्त्र में कहीं बुद्धि को द्रव्य नहीं माना गया जिन नास्तिक टीकाकारों ने कपिल मुनी को अपने साथ मिलाना चाहा उन्हें कपिल मुनि के विरुद्ध 'महत" शब्द का अर्थ बुद्धि किया है। नहीं तो महर्षि कपिल ने स्पष्ट अक्षरों में 'महत" का अर्थ "मन" किया है इस पर पूर्व पक्षी कहता है कि :—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१६॥

पदार्थ—'उत्तरात्' ऊपर के होने से। 'चेत्' यदि हो। आविर्भूतस्वरूपस्तु' अविद्या से जीता हुआ चेतन जब आवरण को दूर कर के प्रगट होगा।

अन्वयार्थ—यतः जीवात्मा अविद्या से आच्छादित (ढंका) चेतन है इस लिये उस दशा में जगत उत्पन्न नहीं कर सकता परन्तु जिस समय अविद्या के आवरण को दूर करके प्रगट होगा तो वह जगत का कारण हो सकता है इस लिये इस का भाव जीव ही लिये जाने में कोई दोष नहीं।

प्रश्न—क्या जीव ही अन्य अवस्था में ब्रह्म हो सकता है अथवा नहीं?

उत्तर—यदि जीव अविद्या के आवरण में आया हुआ चेतन है तो अविद्या का कारण क्या है? और अविद्या किस

का गुण है ? यदि यह कहा जावे कि अविद्या सर्वज्ञ ब्रह्म का गुण है तो बन नहीं सकता क्योंकि सूर्य में अन्धकार की भावना ही मिथ्या कल्पना है। यदि अविद्या जीव का गुण नहीं मानी जावे तो अविद्या के आश्रित जीव का होना और जीवाश्रित अविद्या का होना अन्योन्याश्रय दोष है। इस लिये अविद्या का आवरण आना ही असत्य कल्पना है और न उस से जीव की उत्पत्ति ही हो सकती है इस लिये जब ब्रह्म में अविद्या आही नहीं सकती तो जीव अविद्या के नाश से कैसे ब्रह्म बन सकता है।

प्रश्न—फिर जो (तत्वमसि) छान्दोग्योपनिषद् में कहा है क्या यह कथन ठीक नहीं इस से तो जीव ब्रह्म की स्पष्ट एकता सिद्ध है ?

उत्तर—जहां पर यह वाक्य (तत्वमसि) आया है वहां पर उद्दालक मुनि ने अपने शिष्य श्वेतकेतु को यह उपदेश किया है—उस स्थान पर नौ वार यह शब्द आया है परन्तु समस्त विषय की संगति मिलाने से जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती किन्तु यह सिद्ध होता है कि हे श्वेतकेतु "तू" जीव है।

प्रश्न—जब कि अन्य आचार्य ऐसा लिखते हैं कि जब तक भेदोपाधि को कि जो अविद्या है दूर न किया जावेगा जब तक साक्षी की भांति नित्य दृष्टा अपने को "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा नहीं मानता तब तक ही जीव संज्ञा रहती है। और जहां भेद ज्ञान को दूर कर दिया तब ही ब्रह्म हो जाता है इस लिये उपनिषदों में ऐसा लिखा है कि जीव को यह समझना चाहिये कि मैं ब्रह्म हूं।

उत्तर—आप पिछले सूत्रों में पढ़ आये हैं कि उपनिषदों में स्थान स्थान पर भेद का उपदेश करते हैं कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहना अविद्या है क्योंकि जीव ब्रह्म हो नहीं सकता? उपनिषदों में जहां "मैं ब्रह्म हूं" ऐसा दिखलाया है वहां यह विषय है कि इस सृष्टि से पूर्व ब्रह्म था। उसने अपने आप को जाना कि मैं ब्रह्म हूं। क्या ब्रह्म ने अपने आप को ब्रह्म जाना? तो जीव भी अपने आप को ब्रह्म ही जान ले जैसे राजा तो राजा होते ही हैं परन्तु नाई भी अपने को राजा कहने लगे तो क्या राजा कहने से नाई की वह प्रतिष्ठा हो जायेगी? प्रकृत यह कि जीव को अपने आप में ब्रह्म बनाने की भावना ही अविद्या है।

प्रश्न—क्या जिन मनुष्यों ने यह कहा है कि "अन्य से भय होता है एक मानने से भय नहीं होता यह कथन असत्य है?

उत्तर—निस्सन्देह जो ईश्वर को अपने से दूर मानता है अथवा दो ईश्वरों की धारणा करता है उस को भय होता है नहीं तो जीव ब्रह्म का भेद तो श्रुतियों में पुष्टि के साथ समर्थन किया गया है इस लिये जीव और ब्रह्म को एक मानना वेदों के विरुद्ध होता है और जो उपदेश श्रुतियों से मिलता है वह सब का सब भेद का प्रतिपादक है। परन्तु जहां कहीं अभेद प्रतीत होता है वह दूरी को दूर करने अथवा विरोध के परिहार के कारण से कहा गया है। जैसे बहुधा आसक्त पुरुष को देख कर कह देते हैं कि यह प्रेमी तथा प्रेमी दोनों अभिन्न हैं वह भाव यहां पर भी मानने चाहिये। जिस

समय जीव ब्रह्म के सङ्ग से आनन्द गुण का लाभ करता है उस समय उस में सच्चिदानन्द के गुण विशेष पाये जाते हैं उस समय उपचार से ब्रह्म कह देते हैं जैसे कि लोहे के गोले में जब अग्नि अधिक हो जाती है तो बहुधा कहते हैं कि यह "आग हो गया" परन्तु उस का अर्थ तो भिन्न स्पष्ट ही होता है कि इस में आग इतनी है कि अब वह दूसरे को जला सकता है जो अग्नि का धर्म है। यथार्थ में इस गोले में अग्नि इत्यादि के गुण विद्यमान होने पर भी गोले के पार्थिव गुण रहते ही हैं।

प्रश्न—वामदेव ऋषि ने बृहदारण्यक उपनिषद् में अपने को ब्रह्म कहा है? क्या यह ठीक है?

उत्तर—हम बतला चुके हैं कि भेद न रहने के कारण अथवा अधिक प्रेम के कारण यह उपचार से कहा है परन्तु यथार्थ में जीव ब्रह्म का ही भेद बतलाया है क्योंकि जीव के भीतर ब्रह्म विद्यमान है उपाधि के ही कारण केवल जीव ब्रह्म का भेद नहीं किन्तु व्याप्य और व्यापक धर्म से भी जीव ब्रह्म का भेद श्रुतियों ने दिखलाया है इस लिये ऋषि वामदेव ने प्रेमाधिक्य के कारण अभेदभाव सूचक वाक्य कहा है। अब कहते हैं कि दहराकाश में ईश्वर का ही उपदेश है?

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

पदार्थ—'अन्यार्थः' अन्य अर्थ के हेतु। 'च' भी। 'परामर्शः' विचार है।

अन्वयार्थ—उपनिषदों में जो विचार जीव के भीतर दिखलाई देते हैं वह समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में जब जीव के भीतर ब्रह्म के गुण आ जाते हैं उस दशा का नाम "ब्रह्मरूपता" है। यद्यपि जीव उस समय आनन्द को भोगता दुखों से रहित होता है परन्तु उस समय भी जीव में अपने स्वाभाविक गुण अल्पज्ञता और एकदेशिता आदि विद्यमान रहते हैं इस लिये जो कार्य सर्वज्ञ परमात्मा के हैं वह जीव नहीं कर सकता। अतः दहराकाश से ब्रह्म का ही भावार्थ लेना चाहिये। न कि इस बन्धन में फंसे हुये जीव का द्योतक समझना चाहिये। मुक्ति जीव कहने का भी भाव नहीं है यद्यपि मुक्ति में आनन्द गुण विद्यमान रहते हैं परन्तु सर्वज्ञता और सर्वव्यापकतादि गुण उस में नहीं होते इस लिये जीव को पापों से रहित आदि जहां पर कहा गया है वहां दुक्खादि से रहित अविद्या शून्य होने के कारण कथन किया गया है परन्तु सर्वज्ञ सर्वव्यापक के काम वह उस दशा में भी नहीं कर सकता अतः दहराकाश कहने का तात्पर्य ब्रह्म से ही है।

प्रश्न—श्रुति का ब्रह्म को एक देशीय मानना ठीक प्रतीत नहीं होता?

उत्तर—अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ॥२१॥

पदार्थ—'अल्पश्रुतेः' श्रुति ने जो एक देशी कहा है। 'इतिचेत्' यदि हो। 'तदुक्तम्' तो पूर्व इस का उत्तर दिया जा चुका है।

अन्वयार्थ—यह जो पूर्व पक्ष है कि ईश्वर को एक देशी क्यों बतलाया इस का उत्तर पहिले दे चुके हैं कि वह उस की सूक्ष्मता दिखलाने के लिये और देखने के स्थानादि के कारण कहा गया है जो कि दूसरे पाद के सूत्र ८ में स्पष्ट कर दिया गया है।

प्रश्न—यह किस प्रकार माना जावे कि सूक्ष्मता दिखलाने के कारण कहा गया है?

उत्तर—जब यह बतलाया है कि जितना यह बाहर का आकाश है ऐसा ही भीतर का आकाश है। बाहर और भीतर का आकाश लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा तो समान हो नहीं सकता किन्तु सूक्ष्मता की अपेक्षा दोनों समान हैं इस लिये यह उदाहरण दिया गया।

प्रश्न—जिन श्रुतियों में बतलाया गया है कि न वहां सूर्य प्रकाश करता है और न चन्द्रमा, न बिजुली और न अग्नि। उस के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं क्या वहां अग्नि का वर्णन है?

उत्तर—**अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥**

पदार्थ—'अनुकृतेः' अनुमान करने के लिये। 'तस्य' उस के। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यह जो बतलाया गया है कि उस स्थान पर सूर्य प्रकाश नहीं करता और न चन्द्रमा तथा तरागण प्रकाश करते हैं और न विजुली प्रकाश करती है फिर यह अग्नि, दीपक आदि प्रकाश किस प्रकार प्रकाश कर सकते हैं। उस परमात्मा के प्रकाश से सब प्रकाश करते हैं यहां पर स्पष्ट है कि जब सूर्यादि प्रकाश का निराकरण हो गया तो केवल जीव और परमात्मा केवल दो शेष रह जाते हैं। परन्तु जीव परमाणुओं से काम नहीं ले सकता जो उन को मिला कर प्रकाश दे सके अतः यह श्रुति परमात्मा के अनुमान के ही लिये है।

प्रश्न—उस स्थान पर सूर्य और चन्द्रमा क्यों प्रकाश नहीं करते ?

उत्तर—यतः सूक्ष्म वस्तु में स्थूल और उस के गुण प्रवेश नहीं कर सकते और जीव प्रकृति से सूक्ष्म है और सूर्य इत्यादि प्रकृति के सतोगुण से बने हुये हैं इस लिये न तो यह

स्वयं जीव के भीतर प्रवेश कर सकते हैं और न उन का गुण प्रकाश जीव के भीतर प्रवेश कर सकता है इस लिये जीव के भीतर प्रकाश करने वाला परमात्मा ही है। यतः सूर्यादि सब मिश्रित हैं और वह क्रिया से उत्पन्न होते हैं उस क्रिया का कारण परमात्मा है इस कारण सब परमात्मा के ही द्वारा प्रकाशित होते हैं यदि परमात्मा इन्हें क्रिया शील न करे तो कुछ भी प्रकाश नहीं दे सकते जिस प्रकार घड़ी में जो क्रिया (गति) होती है वह घड़ी बनाने वाले के प्रबन्ध से होती है नहीं तो घड़ी में तो वही सुई और पीतल के यन्त्र हैं।

प्रश्न—क्या अग्नि के परमाणु स्वयं प्रकाश नहीं कर सकते ?

उत्तर—परमाणु में जो प्रकाश है वह उस योग्य नहीं कि उस को कोई देख सके जब कि वह स्वयं अपने आप को दिखला नहीं सकती। तो औरों को किस प्रकार प्रकाशित कर सकती है। इस लिये परमात्मा परमाणुओं को गति देकर सूर्य, चन्द्र, तारागण और बिजुली की दशा में लाते हैं इसी प्रकार और भी जितने पदार्थ हैं उन के भीतर जो प्रकट होने की शक्ति है वह सब ब्रह्म ही से होती है।

प्रश्न—जिस प्रकार चन्द्र और तारागण इत्यादि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं इसी प्रकार सूर्य किसी दूसरे सूर्य से प्रकाशित होता है क्योंकि सूर्य अनेक हैं ?

उत्तर—यदि इस सूर्य को किसी दुसरे सूर्य से उस को किसी तीसरे सूर्य से क्रमशः उत्तरोत्तर प्रकाशित होना स्वीकृत

हो तो अनवस्था दोष होगा। इस लिये चेतन आत्मा के ही प्रकाश से सब प्रकाश करते हैं इस से प्रकाश ही मानना सत्य है। इस में और हेतु दिया जाता है :—

अपि च स्मर्य्यते ॥२३॥

पदार्थ—'अपि' भी। 'च' और। 'स्मर्य्यते' स्मृति ने भी दिखलाया है।

अन्वयार्थ—इस प्रकार और भी अन्य स्मृतियों में कहा गया है कि आत्मा ही इस प्रकार हो सकता है कि जो भीतर प्रकाश करे जिस के प्रकाश से सब सूर्य तथा चन्द्रमा और तारागण प्रकाशित हों। गीता में लिखा है कि "न तो उस को सूर्य प्रकाशित करता है न चन्द्रमा, न अग्नि, जिस को प्राप्त होकर नहीं लौटते वह परम धाम मेरा है" और भी कहा है कि जो सूर्य का तेज समस्त जगत को प्रकाश देता है और जो अग्नि में प्रकाश है वह सब मेरा ही तेज है*।

---

* यदादित्यगतं तेजो जगत् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्॥ (गीता १५। १२)

इसी प्रकार कठ० ५। १५, श्वेता० ६। १४, गीता १५। ६, तथा तैत्तरीयभृगुवल्ली अनुवाक १० से मिलाओ।

यहां पर मामकम्-का अर्थ मेरा (ब्रह्म) का अर्थ लिया गया है।

-"अनुवादक"

प्रश्न—यह जो बतलाया गया है कि अँगूठे के बराबर पुरुष आत्मा के भीतर रहता है और अँगूठे के बराबर धूम से रहित ज्योति की भांति है और वह भूत, भविष्यत का स्वामी है अब यह जो अँगूठे के बराबर पुरुष बतलाया गया है वह जीवात्मा है अथवा परमात्मा ?

उत्तर—शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

पदार्थ—'शब्दात्' शब्द से। 'एव' भी। 'प्रमितः' परिमाण वाला एक देशी।

अन्वयार्थ—वह अंगूठे के समान जो एक देशी बतलाया गया है वह परमात्मा ही है क्योंकि उस को व्यतीत हुये और भविष्यत का स्वामी बतलाया है जो जीवात्मा नहीं हो सकता इस लिये इस शब्द से स्वामी ब्रह्म ही है कोई जीव अथवा प्रकृति भूत, भविष्यत और वर्तमान की स्वामी नहीं हो सकती। इस के अतिरिक्त आत्मा के भीतर ठहरने वाला सिवाय परमात्मा के दूसरा नहीं हो सकता। इस प्रकार के शब्दों से स्पष्ट प्रकट है कि उस अंगूठे के समान पुरुष कथन का भाव परमात्मा ही है।

प्रश्न—सम्पूर्ण जगत में व्यापक परमात्मा को अँगूठे के समान क्यों बतलाया गया ?

उत्तर— हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५॥

पदार्थ—'हृद्यपेक्षया' हृदय के अंगूठे के बराबर होने से। 'तु' तो। 'मनुष्याधिकारत्वात्' मनुष्य के अधिकार होने के कारण।

अन्वयार्थ—जिस प्रकार इतने बड़े सूर्य का यदि प्रतिबिम्ब किसी चित्रकार के चित्र-यन्त्र के द्वारा उतारा जावे तो जितना बड़ा कांच होगा उतना ही बिम्ब पड़ेगा इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक है परन्तु हृदय में उस का प्रतिबिम्ब लेते हैं वह अँगूठे के तुल्य है इस लिये हृदय की नाप के बराबर ही उस प्रतिबिम्ब की भी माप होगी और इसी विचार से पुरुष को अँगूठे की समानता दी है।

प्रश्न—यतः प्रथक् २ योनियों में सब के हृदय है। अँगूठे के समान क्यों बतलाया? चींटी का हृदय स्थान अति छोटा होगा और हाथी का बहुत बड़ा होगा। परन्तु फिर किस प्रकार उस को अँगूठे के बराबर कहा गया। यदि सब जीवों के हृदय स्थान अँगूठे के बराबर होता तब यह बात अवश्य हो सकती है।

उत्तर—यतः सब योनियां केवल एक मनुष्य को छोड़ कर भोग योनि हैं जिन में परमात्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता।

इस लिये उन के हृदय के छोटे बड़े होने से कोई हानि नहीं आती। परमात्मा को जानने का अधिकार केवल मनुष्य को ही है उस का हृदय स्थान अँगूठे के बराबर है।

प्रश्न—मनुष्यों में भी शारीरिक व्यवस्था भेद से अन्तर है कोई बहुत बड़ा कोई अति छोटा है तब सब का हृदय स्थान अँगूठे के बराबर कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जितना बड़ा मनुष्य शरीर होगा उसी के अनुकूल उस का अँगूठा और हृदय स्थान होंगे। इस लिये प्रत्येक मनुष्य के अँगूठे के तुल्य ही उस का हृदय स्थान होने से सब के हृदय स्थान अँगूठे के समान हैं !

प्रश्न—क्या मनुष्यों से ऊपर जो देवतादि हैं उन को ब्रह्म ज्ञान का अधिकार नहीं ? इस पर व्यास देव जी कहते हैं:—

उत्तर— **तदुपर्य्यपि वादरायणः सम्भवात् ॥ २६॥**

पदार्थ—'तत्' मनुष्य से। 'उपर्य्यपि' मनुष्य से ऊपर वालों के लिये भी। 'वादरायणः' व्यास जी के मत में। 'सम्भवात्' सम्भव होने से।

अन्वयार्थ—मनुष्य से ऊपर जो देवतादि हैं उन को भी परमात्मा के दर्शन का अधिकार है इस प्रकार व्यास जी मानते हैं।

प्रश्न—यदि देवताओं के शरीर मनुष्य से बड़े अथवा छोटे होते होंगे तो उन के हृदयाकाश अँगूठे के समान नहीं रहेंगे ?

उत्तर—जिस प्रकार छोटे अथवा बड़े मनुष्यों में उन के अँगूठे के तुल्य हृदयाकाश है इसी प्रकार देवताओं के शरीर में भी उन के अँगूठे के समान हृदयाकाश होगा।

प्रश्न—क्या देवताओं का शरीर है जो अँगूठे के समान उन का हृदयाकाश माना गया है ?

उत्तर—समस्त वेद शास्त्र और उपनिषदों से देवता मूर्तिमान सुने जाते हैं और उन के ब्रह्मचर्य्य धारण पूर्वक पठन पाठन का वर्णन भी सुना जाता है जिस से स्पष्ट है कि जिस को ब्रह्मचारी बन कर पढ़ने का अधिकार है उस को परमात्मा के जानने का भी अधिकार है।

प्रश्न—क्या उन देवताओं को भी देवताओं की पूजा का अधिकार है ?

उत्तर - देवताओं का महादेवता महादेव परमात्मा है उस की पूजा का तो अधिकार है परन्तु उन का मूर्त्तिमान कोई देवता नहीं और न ऋषियों का कोई ऋषि है इस लिये देवता जिस में कर्मकाण्ड में देवता, ऋषि और तर्पण भी मिला हुआ है उस से परे है।

प्रश्न—यदि देवताओं की मूर्ति अर्थात् शरीर स्वीकार करोगे तो कर्म में विरोध आवेगा जिस प्रकार एक ही समय

में दो भिन्न स्थानों पर यज्ञ होने पर देवता किस प्रकार आ जा सकेंगे ?

उत्तर—विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

पदार्थ—'विरोधः' रुकावट । 'कर्मणि' कर्म में । 'इतिचेत्' यदि ऐसा है । 'न' दोष नहीं । 'अनेक' एक से अधिक । 'प्रतिपत्तेः' शक्ति के अन्तरगत होने से । 'दर्शनात्' देखने से ।

अन्वयार्थ—यदि देवता शरीर वाले भी हों तो कर्म में कोई रुकावट नहीं आती । क्योंकि जिस प्रकार एक ही सूर्य समस्त संसार के कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखता है यद्यपि सूर्य एक देशी और सशरीर है परन्तु जहां कोई कर्म करेगा वहां ही सूर्य का सम्बन्ध मिलेगा । इस प्रकार एक शरीर धारी वस्तु सूर्य का अनेक स्थानों के कर्म के साथ सम्बन्ध देखते हैं इस के अतिरिक्त अन्य आचार्य इस को इस प्रकार मानते हैं कि देवता अनेक शरीर धारण कर सकते हैं और योगी के लिये भी अनेक प्रकार के शरीर धारण करने की सिद्धि बतलाई गई है

उस का उदाहरण दिया जा सकता है तात्पर्य यह कि व्यास देव जी के मत में देवता शरीर धारी हैं और एक से अनेक शरीर भी धारण कर सकते हैं।

प्रश्न—क्या एक जीवात्मा का एक ही काल में अनेक शरीर धारण करना सम्भव हो सकता है ?

उत्तर—गीता आदि ग्रन्थों में लिखा है कि योगी बल को प्राप्त करके आत्मा को सहस्रों शरीर में ला सकता है और उस से समस्त भूमण्डल पर विचरता है और उन सहस्रों आत्माओं में से कोई तो विषय भोगता है और कोई तप करता है और फिर उन सहस्रों को एकत्रित कर लेता है कि जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों को एकत्रित करता है।

प्रश्न—निस्सन्देह गीता में ऐसा लिखा है परन्तु लिखने मात्र से सम्भव नहीं किन्तु प्रमाणों की आवश्यकता भी है ?

उत्तर—यतः आत्मा प्रत्यक्ष नहीं कि जिस पर प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जा सके अनुमान प्रत्यक्ष के आश्रित होता है इस में प्रत्यक्ष से सम्बन्ध के बिना ग्रहण किये अस्ति और नास्ति के कारणों की प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती। अतः ऐसे स्थलों पर मानसिक प्रत्यक्ष वालों का शब्द ही प्रमाण हो सकता है इस लिये गीता का वाक्य और व्यास देव जी के कहने से तो स्पष्ट प्रकट है परन्तु अन्य सूर्य वाला उत्तर तो प्रत्यक्ष वादियों के लिये भी है इस पर आगे के सूत्र में विचार करते हैं :—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानु-
मानाभ्याम् ॥२८॥

पदार्थ—'शब्द' शब्द के अर्थों। 'इतिचेत्' यदि यह शङ्का हो। 'न' कोई दोष नहीं। 'अतः' उस से। 'प्रभवात्' उत्पन्न होने से। 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' प्रत्यक्ष और अनुमान से।

अन्वयार्थ—इस स्थान पर यह आशङ्का की जा सकती है कि यदि देवताओं की मूर्ति मानने से कर्म में रुकावट न भी हो तो भी शब्द प्रमाण नहीं रहेगा क्योंकि शब्द और अर्थ के अनादि सम्बन्ध के कारण वेद को अनादि होने के विना किसी दूसरे प्रमाण की विद्यमानता के प्रमाण स्वीकार किये हैं परन्तु जब देवताओं की मूर्ति अनित्य है इस लिये कि वह एक और अनेक हो सकते हैं और जिस में विकार होता है वह अनित्य होते हैं इस लिये अर्थ से जो शब्द का सम्बन्ध है वह अनित्य होगा क्योंकि अनित्य वस्तु से नित्य सम्बन्ध हो नहीं सकता इस कारण प्रत्यक्ष और अनुमानादि किसी अन्य प्रमाण से सशरीर पदार्थ को जान कर शब्द नियत

करना चाहिये इस दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होने से वेद के प्रमाण होने में रुकावट उत्पन्न होती है। इस आक्षेप के सम्बन्ध में विचार उत्पन्न होता है कि क्या शब्द के अनित्य होने से शब्दार्थ का सम्बन्ध अनित्य होगा अथवा अर्थ के अनित्य होने से यदि कहो कि शब्द के अनित्य होने से तो बन नहीं सकता क्योंकि देवताओं की मूर्ति के परिवर्त्तन होने से पूर्व वह शब्द विद्यमान था क्योंकि देवताओं की मूर्ति का कारण होने से कर्म में विक्षेप न होने की भांति वेद के प्रमाणों में भी रुकावट नहीं।

प्रश्न—क्या वेद के शब्दों से देवता उत्पन्न होते हैं जब कि पूर्व सब जगत ब्रह्म से उत्पन्न शब्द कहा जा चुका है अब शब्द से उत्पन्न नहीं किसी प्रकार नहीं बन सकता। यदि वैदिक शब्दों से ही देवताओं की उत्पत्ति स्वीकार की जावे कि जैसे विष्णु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओं के सम्बन्ध में है तब तो यह सब ही अनित्य होंगे क्योंकि उत्पत्ति शील वस्तुयें अनित्य होती हैं। जब विष्णु, रुद्र, आदित्य आदि उद्भूत हैं तो उन को प्रकट करने वाले विष्णु, रुद्रादि शब्द किस प्रकार अनित्य होंगे क्योंकि यह जगत में प्रसिद्ध बात है कि वस्तु के उत्पन्न होने पर उस का नाम रक्खा जाता है।

उत्तर—यतः शब्द दो प्रकार के होते हैं एक लौकिक और दूसरे रूढ़ि कहे जाते हैं। लौकिक शब्दों का तो अपने

अर्थ से नित्य रहने वाला सम्बन्ध होता है परन्तु संसार में जिस शब्द का यौगिक (गुण सम्बन्धी) अर्थ लेना आवश्यक होता है जिस में वह अर्थ मिलेंगे वही उस का अर्थ होगा अर्थात् जाति नित्य होने से जो अधिकता उस जाति की विद्यमान हो उन्हीं से उस शब्द का सम्बन्ध होगा। यह निस्सन्देह ठीक है कि रूढ़ि शब्द वस्तु की उत्पत्ति के अनन्तर किसी अर्थ के निमित्त कल्पित किया जाता है इस लिये यह दोष नहीं आ सकता कि शब्द अर्थ का सम्बन्ध जन्य हो जावेगा और वेद भी नित्य न रहेगा और ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति तो अन्य अर्थों में कही गई है कि ब्रह्म जगत का निमित्त-कारण है। सूर्यादि जितने देवता हैं सब उस ने बनाये हैं परन्तु शब्द से उत्पन्न होने से यह अर्थ है कि जिस वस्तु में वह गुण विद्यमान है। शब्द का अर्थ उस से निकल आवेगा। जैसे शब्द ने बतलाया है जैसा कि गायत्र्युपनिषद् में लिखा है कि वेदों से ब्रह्मा होता है अर्थात् जो चार वेदों को जानता है वह ब्रह्मा कहलाता है अब यदि ब्रह्मा मूर्तिमान मान लिया जावे तो जितने चारों वेदों को जानने वाले होंगे तो सब को ही ब्रह्मा शब्द के अन्तरगत मानना होगा उन में से किसी एक शब्द से उत्पन्न होने अथवा नाश होने से यह सम्बन्ध विच्छेद हो नहीं सकता अतः चारों वेदों के ज्ञाता का नाम ब्रह्मा होना कहां से जाना—शब्द से। इस लिये देवता शब्द से उत्पन्न होते हैं। जिस मूर्ति में यह गुण पाये जावें जिस को शब्द ने बतलाया है। वही मूर्ति उस शब्द का अर्थ हो जावेगी इस लिये दोनों के सशरीर (शरीरधारी) होने से भी कर्म में कोई दोष नहीं आता। भाव यह है कि जिस प्रकार घट शब्द से

अनेक शरीर वाली वस्तुयें जानी जाती हैं किसी एक शरीर वाली वस्तु से भाव नहीं होता इस लिये जिस कर्म में घट की आवश्यकता होती है वहां जो घट मिलता है उसी से काम चल जाता है इसी प्रकार परमात्मा आदि शब्दों से चार वेदों का जानने वाला भाव है यद्यपि वह शरीर धारी होगा परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह एक ही हो। जितने मनुष्य चारों वेदों के ज्ञाता होंगे वह सब ही ब्रह्मा होंगे। पिछले सूत्र में जो देवताओं का अनेक होना बतलाया गया है उस का इस सूत्र से पता लग गया कि शब्द ने जो गुण देवताओं में बतलाये हैं जिस में वह मिलते हैं वह वही देवता है। इस प्रकार गुण एक ही में नहीं पाये जाते किन्तु अनेक में पाये जाते हैं जिस से प्रत्येक देवता अनेक हो सकते हैं इस लिये न तो उस कल्पना की आवश्यकता है कि एक देवता अनेक रूप वाला बन जाता है। क्योंकि इस दशा में जीवात्मा भी अनेक होंगे। जो असम्भव है और न योगीजनों को सहस्रों शरीर देने की आवश्यकता है। बल्कि देवता शब्द से उत्पन्न होते हैं जिस से कोई आक्षेप ही नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब कि अन्य आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि अणिमा आदि साधनों से योगी एक के अनेक रूप धारण कर लेता है क्या यह सत्य नहीं?

उत्तर--शरीर तो अनेक हो जावें परन्तु मन और आत्मा कहां से अनेक होंगे। क्योंकि अणिमा अपने सदृश वस्तु कैसे उत्पन्न कर सकेगी और न मन अपने सदृश मन बना सकता है इस लिये अणिमादि साधनों का यह तात्पर्य

नहीं यतः योग के विषय में इस का पता पाठकगण योगानुवाद में देखेंगे अतः इसे यहीं समाप्त करते हैं।

प्रश्न—यह किस प्रकार जाना जावे कि शब्द से जगत उत्पन्न हो सकता है अथवा शब्द से देवता उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—प्रत्यक्ष और अनुमान से यह बात प्रमाणित होती है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य देखता है घट शब्द के कहने से घट जाति का बोध हो जाता है और अनुमान से भी यही ज्ञात होता है कि जिस शब्द से जिस वस्तु का सम्बन्ध है उसी शब्द से उस अर्थ का ज्ञान हो जावेगा और श्रुति और स्मृति के कहने से भी अनुमान होता है जैसा कि कहा है कि पूर्व सब के नाम और कर्म प्रथक् २ ज्ञान में नियत कर के वेद शब्द से उन को प्रगट और उत्पन्न किया* और सब यह भी देखते हैं कि पहिले शब्द को सुन कर ही उस के अर्थ को देखते हैं। इस लिये प्रजापति ने सृष्टि से पूर्व वैदिक शब्दों का ज्ञान निश्चित कर के उस के अनन्तर जानने योग्य पदार्थों को बनाया। इस प्रकार और अनेक हेतुओं से भी सिद्ध होता है कि देवता आदि की कल्पना वैदिक शब्दों से होती है। अब वेदों का नित्य होना सिद्ध करते हैं।

---

* सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च प्रथक् प्रथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ प्रथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (मनु० १।१३)
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। (ऋ० ८।८।४९।४८)
में भी यही उपदेश किया है। "अनुवादक"

अतएव च नित्यत्वम् ॥२६॥

पदार्थ—'अत' इस कारण। 'एव' भी। 'च' और। 'नित्यत्वम्' वेदों को नित्य सिद्ध किया गया है।

अन्वयार्थ—यतः सब संसार की वस्तुयें जो गौणिक नाम रखती हैं वह सब वेद में हैं और वह प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान का बीज अर्थात् कारण है इस लिये वेद नित्य है। वेद में सब नाम गौणिक हैं इस लिये वेद शब्दों से ही जगत की उत्पत्ति आचार्य्य लोग मानते हैं। व्यास स्मृति में भी लिखा है कि पिछले कल्प अर्थात् ब्राह्म दिन के अन्त में जो वेद परमात्मा के भीतर छिप गये थे। सृष्टि के सम्बन्धी लौकिक इतिहास के साथ महर्षियों ने तप से प्राप्त किया जो ऋषि विना माता पिता के स्वयं जन्मे थे।

प्रश्न—पहिले सिद्ध कर चुके हैं कि ईश्वर वेदों का कर्त्ता है आप इस को नित्य बतलाते हैं इस लिये यह बात ठीक नहीं क्योंकि जो वस्तु जन्य हो वह नित्य नहीं हो सकती।

उत्तर—निस्सन्देह वेद नित्य है क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है। अर्थात् ईश्वर जो सृष्टि रचता है उस का ज्ञान वेद के द्वारा मिलता है जो ईश्वर का गुण है वह अवश्यंभावी

नित्य होगा क्योंकि गुण और गुणी का नित्य सम्बन्ध होता है अर्थात् गुण गुणी के विना और गुणी गुण के बिना नहीं हो सकता इस लिये अन्योन्याश्रय होने से जव से ईश्वर है तब से वेद (ज्ञान) है। यतः ईश्वर नित्य है इस लिये उस का गुण वेद भी नित्य है।

प्रश्न—फिर ईश्वर को वेदों का कर्त्ता अथवा आदि-मूल क्यों कहा ?

उत्तर– यतः ईश्वर का ज्ञान अनन्त है उस में जीव की मुक्ति के लिये जितने ज्ञान की आवश्यकता है उस को पर-मात्मा ने अपने अनन्त ज्ञान में से प्रथक् करके दिया है इस भिन्नता के कारण ईश्वर वेदों का कर्त्ता वतलाया है जितना मनुष्य को ज्ञान हो सकता है उस का वीज वेदों में है वेद के बाहर ऐसा विषय नहीं कि जिस का जानना मुक्ति के लिये आवश्यक हो।

प्रश्न– वेद के ईश्वर के बनाये हुये अथवा उस का ज्ञान होने में क्या प्रमाण है ? क्योंकि हम तो सुनते हैं कि वेद ऋषियों ने बनाये हैं ?

उत्तर—जो प्रमाण सूर्य को ईश्वर का वनाया हुआ होने में है वही समझो जैसे कोई मनुष्य दीपक तो जला सकता है। परन्तु सूर्य को नहीं वना सकता क्योंकि वह सम्पूर्ण प्रकाश का बीज है। वीज से वृक्ष को उत्पन्न करना तो मनुष्य जानता है और उस से अन्य वीज भी उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु पहिला वीज कोई मनुष्य नहीं वना सकता और न

बिना बीज के अर्थात् कारण के कोई कार्य बन सकता है। इसी प्रकार यदि परमात्मा विद्या का सूर्य अथवा बीज मनुष्यों को न देता तो किसी दशा में भी संसार में दीपक और ज्ञान के ग्रन्थ बन नहीं सकते थे।

प्रश्न—वेद के सूर्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—जैसे प्रत्येक मनुष्य जानता है कि रात और दिन में भेद करने वाला सूर्य है इसी प्रकार ब्राह्म दिन और ब्राह्म रात्रि के भेद का कारण होने से वेद ज्ञान चक्षुओं के लिये परमात्मा ने सूर्य बनाया जब तक सूर्य का प्रकाश रहता है तब तक वहां दिन कहलाता है जब तक सूर्य का प्रकाश बिना किसी अस्थिर आवरण से छुपा रहता है उस दशा का नाम रात्रि होना है इसी प्रकार जब तक वेद का सूर्य रहता है तब तक ब्राह्म दिन अर्थात् सृष्टि कहलाती है और जब यह सूर्य छिप जाता है तब ब्राह्मरात्रि हो जाती है इस लिये वेद आध्यात्मिक ज्ञान का सूर्य और प्राकृतिक नेत्रों के लिये परमात्मा ने बनाया है।

प्रश्न—इतना कह देने से कि ईश्वरीय ज्ञान वेद है यह प्रमाणित नहीं हो सकता किन्तु उस के लिये अन्य हेतुओं की अभी और आवश्यकता है?

उत्तर—यतः यह बात प्रत्येक मनुष्य जानता है कि सूर्य किसी देश में नहीं किन्तु समस्त देशों से भिन्न है परन्तु दीपक प्रत्येक घर में होते हैं इसी प्रकार जितनी और पुस्तकें हैं वह किसी न किसी देश की भाषा है परन्तु वेद किसी

देश की भाषा में नहीं जिस से इस का प्रत्येक घर से भिन्न होना प्रकट है। प्रत्येक मनुष्य की बनाई हुई पुस्तक में मनुष्य के प्रति सहिष्णुता पाई जाती है वेद में किसी मनुष्य की सहिष्णुता नहीं। इस में सहस्त्रों हेतु हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है परन्तु यह विषय तो सब को ज्ञात है कि यदि पृथ्वी और उस का चित्र और भूगोल यह तीनों एक ही स्थान पर मिल जावें तो फिर किसी को भूगोल को मिथ्या कहने की आशङ्का नहीं होती इसी प्रकार वेद सृष्टि का भूगोल, मनुष्य शरीर ब्रह्माण्ड का मानचित्र है और समस्त सृष्टि पृथ्वी है इस लिये वेद की शिक्षा प्राकृतिक नियम और चित्र के साथ बराबर तुलना रखती है जिस से उस का ईश्वरीय ज्ञान होना पाया जाता है।

प्रश्न—जब कि प्रत्येक सृष्टि में सूर्य और वेद का नाश होना मनोनीति हो तो वह नित्य कैसे हो सकता है?

उत्तर—**समान नाम रूपत्वाच्चावृत्तावप्य-विरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥**

पदार्थ—'समान' एक सम। 'नाम रूपत्वात्' नाम और रूप होने से। 'च' भी। 'आवृत्तौ' दुवारा होने पर। 'अपि' भी। 'अविरोधो' भेद अथवा विरोध नहीं। 'दर्शनात्' देखते। 'स्मृतेः' स्मृतियों से ज्ञात होने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः प्रत्येक सृष्टि में सूर्य का एक रूप होता है और संसार की समस्त वस्तुओं की एक आकृति होती है और वेदों में इन के नाम भी एक से होते हैं इस लिये वह अनित्य नहीं हो सकते। इस लिये वेदों का उत्पन्न होना और उस का नाश होना बिना ईश्वर के संसार पर प्रकट होना और ईश्वर में छिप जाना वेदों के अनित्य होने का कारण नहीं हो सकता। इस का प्रमाण यह है कि जैसे एक मनुष्य घर में छुप जाये और दो घंटे पश्चात् उसी आकृति और रूप में निकल आवे तो वह नया मनुष्य नहीं कहला सकता। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि में प्रकट होने और प्रत्येक में छुप जाने से भी वेद अनित्य नहीं हो सकते। इस के लिये प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों भांति के प्रमाण मिलते हैं नित्य सूर्य हमारे सन्मुख छुप जाता है और दूसरे दिन प्रकट हो जाता है जिस से संसार में रात्रि और दिन होता है परन्तु इस से कोई मनुष्य इनकार नहीं कर सकता कि सूर्य नित्य सायङ्काल को नाश होता और नित्य प्रातःकाल को उत्पन्न होता है। इस लिये वह अनित्य है। जिस प्रकार रात्रि और दिन के व्यवहार हैं और

सूर्य अनित्य नहीं होता इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय के व्यवहार से वेद अनित्य नहीं हो सकते ।

प्रश्न—जब कि देवताओं के नित्य शरीर बनते और नाश को प्राप्त होते हैं तो इन को प्रगट करने वाले शब्द भी नित्य बिगड़ते ही रहेंगे, इस से वेदों के शब्द अनित्य ही कहलावेंगे ?

उत्तर—जिस प्रकार किसी घट के नाश होने से घट शब्द भी उस के साथ नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि उस की आकृति से मिलने वाले जितने घट विद्यमान हैं उन में उस शब्द का सम्बन्ध विद्यमान रहता है इस लिये नाम और रूप के एक समान होने के कारण वेद के शब्द एक से ही रहते हैं। इस लिये वह यौगिक नाम होने के कारण अनित्य नहीं जिस प्रकार अहर्निशि सोने की दशा में जीवात्मा का मन और इन्द्रियां अन्तर्लय हो जाती हैं और जागने की दशा में फिर प्रगट हो जाती हैं क्या इस से वह इन्द्रियां नित्य उत्पन्न होने वाली कही जा सकती हैं अथवा दिन को नित्य उत्पन्न होने वाला समझा जा सकता है ।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि नित्यप्रति नई इन्द्रियां और मन उत्पन्न होने हैं तो हानि ही क्या है ?

उत्तर—इस दशा में स्मृति भङ्ग होगी क्योंकि कल जिस मनुष्य को देखा था उस का भान जिस मन पर था आज वह मन विद्यमान ही नहीं । इस प्रकार शिक्षण क्रम की

समाप्ति होती है क्योंकि नित्यप्रति नवीन मन होने से कल का पढ़ा हुआ भूल जाया करेगा।

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि जिस प्रकार बालकों का ज्ञान बढ़ता हुआ देखते हैं जैसे कि जब वह बड़े होते हैं तो पूरे ज्ञानी होकर पुस्तकें लिखते जाते हैं इसी प्रकार पहिले मनुष्य अशिक्षित थे शनैः २ जब इन का ज्ञान बढ़ गया तब उन्होंने वेद लिख दिये इस लिये वेद नित्य नहीं कहलाये जा सकते ?

उत्तर—ऐसा मानना सृष्टि नियम के विरुद्ध है क्योंकि सृष्टि में सूर्य का प्रकाश जो पूर्ण प्रकाश है पहिले था उस के पश्चात् दीपक आदि अनेक प्रकाश करने के पदार्थ उत्पन्न हुये इसी प्रकार जब पानी गङ्गा का गङ्गोत्तरी से निकलता है तब शुद्ध होता है और आगे चल कर मलिन मिश्रित हो जाता है इस प्रकार वेद सृष्टि के बहुत दिनों पश्चात् उत्पन्न नहीं होते किन्तु माता पिता से उत्पन्न होने वाले मनुष्य सृष्टि से पूर्व उत्पन्न हुये जैसा कि स्मृति में लिखा मिलता है कि जिस योनि का जो कर्म सृष्टि से पूर्व वेद में नियत किया गया वह बारम्बार जन्म लेते हुये भी वैसे ही कर्म करते हैं जो योनि हिंसक बनाई गई वह हिंसक जो दयावान वह दया योनि रही और उस में दया पाई जाती है जिस योनि को जिस काम के लिये बनाया गया है वह उसी प्रकार करती है।

प्रश्न—मनुष्य को परमात्मा ने हिंसक बनाया है अथवा दयालु ?

उत्तर—मनुष्य उभय योनि है अर्थात् अवनति और उन्नति दोनों को करता है इस लिये मनुष्य को दो विभागों में एक आर्य और दूसरा दस्यु इस में आर्य दयावान होता है और दस्यु संज्ञा कठोर प्रकृति वाले मनुष्यों की है। आर्य ज्ञान के अनुकूल कार्य करते हैं जो देवताओं का अनुगामी है। दस्यु अवनति करने वालों का नाम है जो पशुधर्म के अनुगामी होते हैं। आर्य परोक्ष अर्थात् फल पर दृष्टि रखता है। दस्यु प्रत्यक्ष अर्थात् वर्तमान पर प्रसन्न रहता है। आर्य श्रेय मार्ग पर चलता है और दस्यु प्रेम मार्ग पर चलने वाले होते हैं।

प्रश्न—क्या जिस प्रकार अब सृष्टि उत्पन्न हुई है इसी प्रकार पहिले भी थी और आगे भी होगी?

उत्तर—वेदों में स्पष्ट अक्षरों में लिखा है कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और समुद्र हैं परमात्मा ने उन्हें पहिले उत्पन्न किया था इसी प्रकार अब भी उत्पन्न किये हैं आगे भी होंगे क्योंकि परमात्मा के ज्ञान के पूर्ण होने से उस में उलट फेर नहीं होता। स्मृति में लिखा है कि जिस प्रकार ऋषियों के नाम अब वेदों में देखे जाते हैं अथवा जिन ऋषियों ने वेदों को देखा है उन के नाम ब्रह्म रात्रि व्यतीत होने पर जन्म से रहित परमात्मा उसी प्रकार देता है जिस प्रकार प्रमाण वेदों के ईश्वरीय ज्ञान और नित्य होने के लिये विद्यमान हैं। इन को इस अनुवाद में नहीं दिया जा सकता उस के लिये एक भिन्न बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है।

प्रश्न—सूर्यादि देवताओं को वेदों का अधिकार है अथवा नहीं ? इस पर जैमिनि ऋषि की सम्मति प्रकट करते हैं :—

उत्तर— मध्वादिषु सम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

पदार्थ—'मध्वादिषु' विद्वानों के नाम कि जिन्हें उपनिषदों में बतलाया है। 'असम्भवाद' असम्भव होने से। 'अनधिकारम्' अधिकार देवताओं को नहीं। 'जैमिनिः' जैमिनि आचार्य ऐसा मानते हैं।

अन्वयार्थ—जैमिनि आचार्य जो व्यास जी के शिष्य हैं यह कहते हैं कि देवताओं को ब्रह्म-विद्या अर्थात् परमात्मा के जानने का अधिकार नहीं। इस के लिये उन का यह हेतु है कि उपनिषदों में कहे हुये मधु आदि विद्याओं में होनी असम्भव है इस लिये ब्रह्म विद्या में इन को अधिकार नहीं।

प्रश्न—मधु आदि विद्याओं में देवताओं को क्यों अधिकार नहीं दिया गया ?

उत्तर—वहां बतलाया गया है कि आदित्य अर्थात् सूर्य मधु है उस की उपासना कर ! जब सूर्य को मधु बतलाया

है यदि सूर्य के लिये सूर्य को मधु बतला कर उपासना बतलाई जावे तो आत्माश्रय दोष होने से असम्भव है यदि सूर्य के लिये अन्य सूर्य और उस के लिये तीसरे सूर्य माने जावें तो अनवस्था दोष होता है। यदि इस सूर्य के लिये दूसरा सूर्य और दूसरे के लिये तीसरा निदान उस के लिये चौथा तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। इस लिये किस प्रकार माना जावे कि सूर्य आदि देवताओं को मधु विद्या में अधिकार असम्भव होने से नहीं! जब मधु आदि विद्याओं में सूर्य आदि को अधिकार नहीं तो ब्रह्म विद्या में किस प्रकार हो सकता है यह जैमिनि जी मानते हैं।

प्रश्न—देवताओं को ब्रह्म-विद्या में क्यों अधिकार नहीं?

उत्तर—ज्योतिषभावाच्च ॥३२॥

पदार्थ—'ज्योतिष' ऊपर के चन्द्र तथा सूर्य एवं तारागण आदि योनियां। 'भावः' देवता शब्द से लिये जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः देवता शब्द सूर्य, चन्द्र तथा तारागण आदि प्रकाश देने वाले पदार्थों का भाव बोधक है यद्यपि प्रकाश-मण्डल हैं परन्तु उन में हृदयाकाश आदि का होना सिद्ध नहीं होता और जहां हृदयाकाश और मन नहीं तो उन को ब्रह्म विद्या का

अधिकार कैसे हो सकता है जब सूर्य लोकादि भी पृथ्वी की भांति अचेतन अर्थात् ज्ञान रहित हैं इसी प्रकार तारागण भी समझ लेने चाहियें इस लिये मूर्त्ति वाले देवता मान कर भी इन को ब्रह्म-विद्या का अधिकार सिद्ध नहीं होता और उस में प्रत्यक्ष आदि तो ठीक रीति पर प्रमाण हो ही नहीं सकते और न इतिहास, पुराण इत्यादि शब्द मनुष्यों के बनाये हुये इस परोक्ष विषय में प्रमाण हो सकते हैं इस पर व्यास जी अपनी सम्मति देते हैं :—

भावन्तु वादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

पदार्थ—'भावन्तु' देवताओं को अधिकार है। 'वादरायणः' व्यास जी के मत में। 'अस्ति' है। 'हि' निश्चय करके।

अन्वयार्थ—यद्यपि मधु आदि विद्या में देवताओं को असम्भव होने से अधिकार नहीं परन्तु ब्रह्म विद्या में अधिकार है। इस प्रकार व्यास जी मानते हैं। क्योंकि किसी एक वस्तु में अधिकार न होना सब स्थानों के अधिकारों को नहीं रोकता। जैसे ब्राह्मण वर्ण के मनुष्य राजसूयज्ञ करने का अधिकार

नहीं रखते क्योंकि यह अधिकार केवल क्षत्रियों को है - अब राजसूयज्ञ के अनधिकार से ब्राह्मण को अन्य यज्ञ करने में भी अधिकार नहीं परन्तु और यज्ञों में ब्राह्मणों को अधिकार दिया गया है इसी प्रकार मधु-विद्या में देवताओं को अधिकार न होने पर भी ब्रह्म विद्या में इन को अधिकार है क्योंकि श्रुति ने भी बतलाया है कि जिस ने देवताओं में से जाना जिस ने ऋषियों में से जिस ने मनुष्यों में से जाना ।

प्रश्न जब सूर्य ज्योति अर्थात् प्रकाश से ही भाव है तब अचेतन पदार्थ को ज्ञान का अधिकार कैसे हो सकता है?

उत्तर— यद्यपि ज्योति आदि शब्द भी सूर्य आदि देवताओं के लिये कहे जाते हैं परन्तु इन का अर्थ चेतन माना जाता है जैसे परमात्मा को चेतन स्वरूप कहने से वह अचेतन नहीं हो जाता इसी प्रकार चन्द्रादि देवताओं को अचेतन मान कर भी इस का अभिमानी अथवा उस में रहने वाला चेतन पुरुष मानना पड़ता है अतः वह अधिकार उस चेतन के लिये ही हो सकता है अचेतन के लिये नहीं ।

प्रश्न—क्या मनुष्यों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं ?। अर्थात् शूद्र को वेदान्त का अधिकार नहीं ।

उत्तर— शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा द्रवणात्सूच्यते हि ॥३४॥

पदार्थ—शुगस्य-'शुक्' शोक होने से। 'अस्य' जानश्रुति। 'तत्' शूद्र। अनादर' अधिकार न होने से। 'श्रवणात्' सुनने से। 'तदा' उस वक्त। 'द्रवणात्' नम्र हृदय होने से। 'सूच्यते' जाना जाता है कि शूद्र को अधिकार नहीं। 'हि' निश्चय करके।

अन्वयार्थ—यहां पर छान्दोग्योपनिषद् के इस विषय के आधार पर कि जहां जानश्रुति पौत्रायण नामक राजा रैक्व मुनि के पास विद्या के लिये जाता है और रैक्व मुनि उस को शूद्र कह कर पढ़ाने से मना कर देते हैं इस से स्पष्ट है कि शूद्र को ब्रह्म-विद्या का अधिकार नहीं। परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है विदुर आदि शूद्र कुल में उत्पन्न हो कर ब्रह्म-ज्ञानी हुये हैं फिर शूद्र को ब्रह्म-विद्या का अधिकार किस प्रकार नहीं ?

प्रश्न—जानश्रुति क्षत्रिय राजा था इस को रैक्व मुनि ने शूद्र क्यों कहा ?

उत्तर—एक तो वह हंस से शूद्र शब्द सुन कर ही रैक्व मुनि के पास गया था। मुनि ने उस बात को बतलाने के लिये कि वह हंस वाले विषय से परिचित है इस को शूद्र कहा। दूसरे जानश्रुति गौ आदि धन के फिरते में विद्या

चाहता था इस बात को बतलाने के लिये कि तू विद्या गौरव नहीं जानता क्योंकि धन के फिरते में विद्या नहीं मिलती किन्तु विद्या गुरु भक्ति और सेवा से प्राप्त होती है।

प्रश्न—क्या शूद्र को वेद और वेदान्त के पठन पाठन का अधिकार नहीं ?

उत्तर—क्योंकि जिस का उपनयन (यज्ञोपवीत) और वेदारम्भ संस्कार न हुआ हो उस को ब्रह्म विद्या का अधिकार नहीं। शूद्र उस को कहते हैं कि जो उपनयन संस्कार से रहित और वेदारम्भ संस्कार विरहित हो। ब्रह्मविद्या का अधिकार उस मनुष्य को नहीं हो सकता कि जो व्रत से शून्य है।

प्रश्न—वेद में तो चारो वर्णों* को वेदों के पढ़ने का अधिकार दिया गया है ?

उत्तर—चारों वर्णों की सन्तान को व्रतबन्ध अर्थात् उपनयन और वेदारम्भ संस्कार करा कर ही वेद के पढ़ने का अधिकार है बिना इस के नहीं, क्योंकि वेद अथवा ब्रह्मविद्या और विद्याओं के पढ़ने के पश्चात् ही आ सकती है जिस मनुष्य ने वेदांग और उपांग को ठीक रीति पर नहीं समझा उस को वेद का अर्थ कभी समझ में नहीं आ सकता इस लिये महर्षि कपिल ने भी कहा था कि "जो लोग अर्थात् अज्ञ

* यथेमां वाचं कल्याणीं मा वदानि जनेभ्यः। शूद्रराजन्यादि वेद वाक्य प्रमाण हैं।

और उपाङ्ग को ठीक प्रकार जानते हैं उन्हीं को वेदार्थ का ज्ञान हो सकता है।

प्रश्न—फिर जानश्रुति को रैक्व मुनि ने क्यों पढ़ाया?

उत्तर— क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

पदार्थ—'क्षत्रियत्व' क्षत्रियपन का। 'गतेः' ज्ञान होने से। 'उत्तरत्र' उस के पूर्व पुरुषा। 'चैत्ररथेन' चित्ररथ नाम क्षत्रिय होने से। 'लिङ्गात्' चिह्न पाये जाने से।

अन्वयार्थ—यतः जानश्रुति वंश से भी और गुण, कर्म, स्वभाव से भी क्षत्रिय सिद्ध हुआ इस लिये रैक्व मुनि ने उसे पढ़ाया। यदि वह गुण, कर्म और स्वभाव से शूद्र होता तो उस को मुनि किसी दशा में भी न पढ़ाते क्योंकि प्राचीन ऋषि गुण, कर्म और स्वभाव से वर्ण मानते थे।

प्रश्न—जानश्रुति में कौन सा गुण, कर्म अथवा स्वभाव क्षत्रियपने का था?

उत्तर—जहां वह क्षत्रिय वंश से था वहां उसने जो बल से धनादि संग्रह किया था वह उस के शूद्र होने का

खण्डन करता था क्योंकि शूद्र सेवा कर्म करते थे न कि राज्य, जब कि वह राजा हो गया तो शूद्र कैसे कहा जा सकता था।

प्रश्न—शूद्र को अधिकार क्यों नहीं ?

उत्तर— **संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥**

पदार्थ—'संस्कारपरामर्शात्' संस्कारों के विचार होने से। 'तद' उस का संस्कार। 'अभाव' न होना। 'अभिलापात्' वतलाये जाने से। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः शूद्र के माता पिता उस के उपनयन आदि संस्कार नहीं कराते जिस से अच्छे संस्कार न होने से जो चिह्न जाने जाते हैं और ब्रह्मज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि पहिले माता से उच्च शिक्षा और संस्कार लेकर फिर पिता से उत्तम शिक्षा और संस्कार ग्रहण करे तदुपरान्त आचार्य के समीप सर्वोच्च विद्या और संस्कार प्राप्त करे। यतः शूद्र पूर्व वर्णित दो उत्तम संस्कारों से रहित होता है इस लिये शूद्र के जीवन की नींव अच्छी नहीं डाली जाती। जिस घर की नींव ही अच्छी

नहीं उस पर ब्रह्मविद्या जैसा प्रासाद (महल) कैसे चुना जा सकता है। हां! जिस के संस्कार नियम पूर्वक हों वह ब्रह्मविद्या को जान सकता है।

प्रश्न—दूसरे मतवाले और देशों के लोग संस्कार से रहित हैं—क्या उनको ब्रह्म विद्या का अधिकार नहीं।

उत्तर—जो मनुष्य मानवी दोषों से रहित है जिन के भीतर पशु धर्म नहीं उसी का स्वत्व है। जिन में मनुष्यत्व ही नहीं, यदि मनुष्यत्व होता तो किस प्रकार मनुष्य ईश्वर के पुत्र मसीह की कल्पना करते और ईश्वर को एकदेशी मानते? यथार्थ में ब्रह्मविद्या का अधिकार संस्कार होने पर ही हो सकता है। शूद्र को क्यों अधिकार नहीं इस पर फिर हेतु देते हैं:—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

पदार्थ—'तत्' उस के। 'अभाव' नहीं की। निर्धारणे' अन्वेषण करने में। 'च' भी। 'प्रवृत्तेः' गौतम की प्रवृत्ति देखने से।

अन्वयार्थ—यतः वेद के लिये सत्य का होना आवश्यक है इस लिये जो सत्य बोलता है वह शूद्र नहीं है जैसा कि जिस समय सत्यकाम गौतम ऋषि के गुरुकुल में शिक्षा पाने गया और गौतम ने उस से पूँछा कि तू किस गोत्र में उत्पन्न हुआ है। यतः सत्यकाम का कोई गोत्र न

था इस लिये उस ने सत्य २ अपना वर्णन कर दिया जिस से गौतम ने कहा कि ब्राह्मण के सिवाय इस प्रकार कौन सत्य कथन कर सकता है इस लिये सत्यकाम का उपनयन करा कर उस को ब्रह्मविद्या प्रदान की।

प्रश्न—क्या क्षत्रिय और वैश्य सत्य नहीं बोलते। केवल सत्य बोलने से गौतम ने ब्राह्मण कैसे बतला दिया ?

उत्तर—क्षत्रिय और वैश्य रजोगुणी होते हैं जिस में सत्यासत्य मिश्रित रहता है सिवाय सतोगुणी ब्राह्मण के दूसरों में पूर्णतया सत्यता नहीं पाई जाती। शूद्रों को ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं। इस के लिये और प्रमाण देते हैं:—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

पदार्थ—'श्रवणाध्ययनार्थ' सुनने, पढ़ने और अर्थ विचारने का। 'प्रतिषेधात्' नहीं (आज्ञा के साथ) निषेध। 'स्मृतेः' धर्मशास्त्रों में। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यतः धर्मशास्त्र ने शूद्र को पढ़ने, सुनने और अर्थ विचारने को निषेध किया है किन्तु स्मृति ने भी इस के लिये दण्ड विधान किया है।

प्रश्न—जब कि वेद सूर्य की भांति समस्त संसार के लिये हैं तो शूद्र को इस का अधिकार क्यों नहीं ?

उत्तर—जिस प्रकार सूर्य सब के लिये है परन्तु अन्धे, उल्लू और चमगादर अथवा जिनकी आंखों में रोग हो उन के लिये नहीं इसी प्रकार जो वेद के पढ़ने के लिये उपनयन और वेदारम्भ संस्कार और ब्रह्मचर्य्याश्रम धारण नहीं करता अथवा जो सत्य नहीं बोलता, जिस की वाणी विद्या संस्कार रहित होने से शुद्ध शब्दों को प्रकट नहीं कर सकती इस प्रकार के मनुष्य शूद्र कहे जाते हैं उस को वेद पढ़ने का अधिकार देना अन्धे को सूर्य दिखाना है जिन के संस्कार हो चुके हों वह चाहे किसी घर में उत्पन्न हुये हों उन को पढ़ने का अधिकार है परन्तु सत्यता से रहित उपनयन संस्कारों से रहित अनिपढ़ शुद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं।

प्रश्न—कठ शाखा में जो यह बतलाया है कि "यह समस्त जगत प्राण से कांपते हैं" और निकलते समय बड़ा भारी भय होता है और वज़ गिरता है जो इस को जानता है वह मुक्त हो जाता है यहां पर भय का देने वाला कौन है प्राण परमात्मा ही का नाम है अथवा पांच प्रकार की वायु का?

उत्तर—**कम्पनात्** ।३६।।

पदार्थ—'कम्पनात्' कांपने से वह भय देने वाला परमात्मा है।

अन्वयार्थ—यतः यह बतलाया गया है कि जिस से सब भय खाते हैं इस लिये वह प्राण परमात्मा है।

और सब इसी के भय से भयातुर हैं जैसा कि उपनिषद् ने लिखा है❀ कि उस परमात्मा के भय से नियम के अनुकूल अग्नि काम करती हैं उसी के भय से सूर्य नियमानुकूल चलता है उसी के भय से इन्द्र अर्थात् बिजली चलती हैं इसी के भय से वायु चलती है इसी के नियम से मृत्यु काम करती है सिवाय परमात्मा के इन को भयाकुल करने वाला कोई नहीं ।

प्रश्न—यदि यहां "प्राण" शब्द से प्राण-वायु ली जावे क्योंकि उस के निकलने से सब को भय लगता है तो यह प्रसिद्ध अर्थ होगा ?

उत्तर—प्राण वायु के निकलने से समस्त प्राणी निस्सन्देह भय खाते हुये देखे गये हैं परन्तु वायु को प्राण-वायु से क्या भय हो सकता है इसी प्रकार सूर्य, बिजली और अग्नि एवं मृत्यु को उस से कोई भय नहीं इस लिये जिस से भय से सब कांपते हैं वह केवल परमात्मा ही है और इस के नामों में प्राण* आदि विद्यमान भी हैं इस लिये भय का कारण परमात्मा है क्योंकि धनञ्जय वायु कि जिस का नाम यहां प्राण लिया जा सकता है उस से सब जगत भय खाने वाला है परन्तु वायु से वायु को भय मानना स्वीकार करना आत्मा-

---

❀ भयात्तपति सूर्यः । कठोपनिषद् ६ । २, ३ । यही भाव तैत्तरोयोपनिषद् ८ । १ में लिखा है ।

* स उ प्राणस्य प्राणः ।

भय दोष है इस लिये वेदों ने सब को गति (सक्रिय) देने वाला परमात्मा ही बतलाया है शेष सब पदार्थ केवल जीवात्मा को छोड़ कर निष्क्रिय अर्थात् दूसरे की गति से क्रियाशील हैं स्वयं क्रियात्मक नहीं अथवा स्वयं गति वाली नहीं हैं उन में जो कुछ क्रिया हो रही है वह परमात्मा के भय (नियम) से दिखलाई दे रही है।

प्रश्न—जब कि प्राण मनुष्यों के जीवन का कारण हैं। पशुओं का भी जीवनाधार है उस के रहने से जीवन और निकल जाने से मृत्यु हो जाती है तो यह मानना पड़ता है कि यह प्राण वायु के निकलने से भय है ?

उत्तर—कोई मनुष्य प्राण और अपान के बिना जीवित नहीं रह सकता किन्तु जिस चेतन के आश्रित यह प्राण और अपान रहते हैं उस से जीवन है जब कि श्रुति ने बतलाया है और हेतु तथा प्रमाणों से भी सिद्ध है तो उस के विरुद्ध मानना बुद्धिमत्ता नहीं ?

प्रश्न—छान्दोग्योपनिषद् में जो प्रजापति विद्या के विषय में यह लिखा है कि यह जीवात्मा इस शरीर से प्रथक् होकर परमज्योति रूप को प्राप्त हो कर अपने रूप से प्रकट होता है। यहां पर यह सन्देह है कि परमज्योति सूर्य का नाम है अथवा अग्नि या परमात्मा का बोधक है ?

उत्तर—ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०

पदार्थ—'ज्योतिः' परमात्मा ज्योति अर्थात् प्रकाश है। 'दर्शनात्' प्रकरण के देखने से ।

अन्वयार्थ—इस प्रकरण में ज्योति शब्द का अर्थ ब्रह्म ही है क्योंकि विषय के देखने से स्पष्ट विदित है। कि उस स्थान पर परमात्मा जो निष्पाप है उस की अनुवृत्ति (पिछला पाठ) आती है अर्थात् जिस का पूर्व वर्णन हो चुका है उस को मिला कर यहां पर अर्थ निकाल लेना चाहिये क्योंकि सब से महान् ज्योति एक परमात्मा को छोड़ कर दूसरी नहीं हो सकती।

प्रश्न—यतः ज्योति शब्द अग्नि के लिये नियत हो चुका है और यहां कोई ऐसा स्पष्ट चिह्न नहीं इस लिये यहां प्रथम मुमुक्षुओं अर्थात् मोक्ष चाहने वालों के लिये सूर्य की उपासना बतलाई है* ?

उत्तर—ऐसा नहीं! विषय से स्पष्ट प्रकट है कि यहां पर परम ज्योति के अर्थ ब्रह्म के हैं क्योंकि शरीर से रहित ज्योति बतला कर प्रगट किया है कि वह ब्रह्म सूर्य का शरीर है इस लिये उस से यह भाव नहीं लिया जा सकता।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पदार्थ—'आकाशः' परमात्मा का नाम आकाश*। 'अर्थान्तरत्वादि' अर्थान्तर आदि। 'व्यपदेशात्' बतलाया जाने से ।

---

* कप्यास इति श्रुतेः सूर्यमण्डल में जो पुरुष है इत्यादि उसी की उपासना का क्रम। -"अनुवादक"

अन्वयार्थ—आकाश नाम से नामी और रूप से रहित जो भीतर है वह ब्रह्म है वही अमृत है उसी को श्रुतियां आत्मा बतलाती हैं इस प्रकरण में यह सन्देह होता है कि क्या वह आकाश जिस का इस श्रुति में वर्णन आया है वह भूताकाश है अथवा परमात्मा। साधारण रीति से तो भूताकाश मानना ही चाहिये क्योंकि आकाश शब्द उसी के लिये नियत है और नाम और रूप से रहित अथवा उस की कल्पना का स्थान भी वह हो सकता है परन्तु जहां जगत को जनन करने वाला बतलाया है वहां ब्रह्म का नाम आकाश है इस लिये यहां आकाश शब्द किस अर्थ में है इस का निर्णय व्यास जी इस सूत्र से करते हैं कि वह भूताकाश नाम रूप से रहित नहीं हो सकता इस लिये नाम रूप से पृथक् होने से आकाश ब्रह्म ही का नाम है क्योंकि जितने नाम और रूप हैं वह उत्पन्न पदार्थों में रहते हैं। जीव भी नाम और रूप वाली वस्तुओं के साथ सम्बन्ध रखता है इस लिये आकाश शब्द ब्रह्म का ही बोधक है।

---

* खं ब्रह्म सर्वत्र। यहां आकाश के तुल्य ब्रह्म व्यापक माना गया है।

-"अनुवादक"

प्रश्न—जीव ब्रह्म का तो भेद है जो नाम रूप वाले पदार्थों में जीव का सम्बन्ध माना जावे और ब्रह्म का न माना जाये क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् में अनेक आत्मा माने हैं ?

उत्तर— सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

पदार्थ—'सुषुप्तिः' गहरी नींद, अचेत निद्रा। 'उत्क्रान्त्योः' जाग्रत अवस्था। 'भेदेन' पृथकत्व बतलाये जाने से।

अन्वयार्थ—यतः घोर निद्रा और जाग्रति अवस्था में भिन्न २ करके श्रुति ने बतलाया है इस लिये जीव और ब्रह्म का भेद होने से जहां ब्रह्म का लक्षण मिले वहां ब्रह्म और जहां जीव का लक्षण मिले वहां जीव लेना चाहिये उपरोक्त श्रुति में ब्रह्म ही अर्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—आज तक सम्पूर्ण आचार्य्य तो अभेद अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों को एक बतलाते रहे हैं आप भेद बतलाते हैं।

उत्तर—यह सूत्र न तो हम ने मन से बनाया है और पहिले भी श्री रामानुजाचार्य्य, जीव ब्रह्म का भेद मानते थे*

* जीव ब्रह्म के भेद मानने वाले आचार्यों में बोधायन, टङ्क, द्रमिड, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, यामुनाचार्य, माध्व, श्री रामानुज तथा ऋषि दयानन्द सरस्वती प्रसिद्ध हैं।

अब भी बुद्धिमान शास्त्र वेत्ता भेद मानते हैं इस लिये व्यास देव जी पदे २ जीव और ब्रह्म का भेद मानते हैं अपने प्रमाणों के होने पर भी यदि कोई अपने स्वार्थ के लिये जीव ब्रह्म का भेद न माने तो उस की इच्छा नहीं तो श्रुति और स्मृतियों से स्पष्ट भेद प्रतीत होता है प्राज्ञ, विज्ञान, आत्मा आदि सब नाम जीव के हैं और ब्रह्म, परमात्मा और आकाशादि नाम ब्रह्म के ही हैं और श्रुतियां अकाट्य प्रमाणों से जीव ब्रह्म का भेद बतलाती हैं जीव ब्रह्म के भेद के लिये एक प्रमाण और देते हैं :—

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

पदार्थ—'पतिः' स्वामी। 'आदि' इत्यादि। 'शब्देभ्यः' शब्दों में स्पष्ट रीति पर भेद बतलाया है।

अन्वयार्थ—यतः परमात्मा को जीव और प्रकृति का अधि पति अर्थात् स्थित रखने वाला स्वामी कहा है जिस से स्पष्ट है कि यह शब्द एक के लिये हो ही नहीं सकता। क्योंकि आप अपना स्वामी अपने आप में व्यापक आप अपने को देखने वाला हो नहीं सकता क्योंकि इस में आत्माश्रय दोष है परन्तु यह शब्द श्रुतियों में परमात्मा के लिये आते हैं कि परमात्मा

सब भूतों का आत्मा है जो सब भूतों को आत्मा के भीतर देखता है और सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा को देखता है इस प्रकार के भेद प्रदर्शक शब्दों की विद्यमानता में बिना हेतु जीव को ब्रह्म बतलाना ठीक नहीं इन तीन पादों (प्रकरणों) में तो कोई ऐसा सूत्र नहीं कि जो जीव ब्रह्म को एक बतलावे अथवा उपाधिकृत भेद कहता हो इस के विपरीत भेद दर्शक अनेक सूत्र श्रुतियां और हेतु दिये गये हैं यदि मनुष्य ने वेदान्त से पूर्व न्याय और वैशेषिक आदि दर्शन शास्त्रों को पढ़ लेते तो मायावाद को जो वेद विरुद्ध है वेदान्त के नाम से जो वेदानुकूल है प्रसिद्ध न करते। यदि मनुष्य वेदान्त के तत्वार्थ से परिचित हो जावें तो उन की आत्मा में इतना बल आ सकता है कि सम्पूर्ण संसार के गुरु बन सकते हैं प्रत्येक मष्तिष्क पर इस का प्रभाव पड़ सकता है यदि भारत के वैदिक धर्मी वेदान्त को भले प्रकार विचारें तो उन की और ही दशा हो जावे। मृत्यु का भय

जाता रहे आत्मा में शान्ति और आनन्द मिलने लगे । सब दुख दूर हो जावें वेदान्त दर्शन अध्याय एक पाद तीन का अनुवाद समाप्त हुआ । चौथे पाद का भावार्थ आरम्भ किया जावेगा ।

इति श्री शाण्डिल्य गोत्र श्री पं० चन्द्रिका प्रसा-
दात्मज पं० गोकुलचन्द्र दीक्षितकृते ब्रह्मसूत्रे
आर्यभाषाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
तृतीयः पादः समाप्तः ॥

॥ ओ३म् ॥

अथ चतुर्थः पादः प्रारंभ्यते ।

प्रथम तीन पादों में ब्रह्म के जानने की जिज्ञासा के लिये ब्रह्म की यह परिभाषा की कि जिस से यह सृष्टि उत्पन्न हो कर अस्तित्व में आती और पुनः नाश होती है वह ब्रह्म है उस परिभाषा में प्रकृति भी आ सकती थी. इस को यह सिद्ध कर के कि ज्ञान के अनुकूल क्रिया प्रकृति में नहीं पाई जाती इस लिये वेद ने उस को कर्त्ता नहीं कहा अब शेष शङ्काओं का भी उत्तर दिया जाता है :—

प्रश्न—यह किस प्रकार सत्य हो सकता है कि प्रकृति जगत की कर्त्ता नहीं। क्योंकि कठोपनिषद् में प्रकृति को जगत का कारण लिखा है जिससे अनुमान होता है कि प्रकृति जगत कर्त्ता है ?

उत्तर— **आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥**

पदार्थ—'आनुमानिकं' अनुमान से सिद्ध होने वाला 'अपि' भी। 'एकेषां' एक शाखा वालों के मत में। 'इति-चेत्' यदि यह दोष हो। 'न' नहीं। 'शरीररूपक' शरीर

के अलङ्कार से। 'विन्यस्त' त्याग। 'गृहीते' ग्रहण कर के। 'दर्शयति' दिखाये जाने। 'च' भी।

अन्वयार्थ—यदि कठोपनिषद् में यह देख कर कि महत अर्थात् मन से परे अर्थात् उसका कारण असंगत-अर्थात् प्रकृति है और कारण के लिये यह नियम है कि वह पूर्व विद्यमान हो और उसके लिये नियत हो। जब कि मन इन्द्रिय आदि, सृष्टि के लिये प्रकृति नियत और उससे पूर्व विद्यमान भी है इससे इस के जगत कर्त्ता होने का अनुमान हो सकता है और जब तक कार्य रहता है कारण भी उस में विद्यमान रहता है इस से स्थिति का कारण भी अनुमान हो जाता है और प्रलय हो कर कार्य अपने उपादान में मिल जाता है इस प्रकार के अनुमान से—प्रकृति को श्रुति के अनुसार जगत कर्त्ता सिद्ध करते हैं इस के उत्तर में व्यासदेव जी कहते हैं कि कठोपनिषद की आज्ञा से प्रकृति के जगत कर्त्ता का अनुमान नहीं हो सकता। क्यों कि वहाँ शरीर का अलङ्कार बना कर दिखलाया है कि यह शरीर गाड़ी है इन्द्रियां घोड़े हैं मन बाग अर्थात् रास्ता अथवा लगाम है। बुद्धि

सारथी है और आत्मा रथी अर्थात् बैठने वाला है यहां पर शरीर प्रकृति को माना जा सकता है आत्मा पुरुष है इस से स्पष्ट प्रगट है कि शरीर बिना आत्मा के कुछ नहीं कर सकता इस प्रकार स्वतन्त्र होकर प्रकृति जगत को नहीं बना सकती जैसे मृतक शरीर कोई काम नहीं कर सकता इसी प्रकार प्रकृति में जगत के उत्पन्न करने की शक्ति नहीं हो सकती निस्सन्देह प्रकृति जगत का उपादान कारण है परन्तु कर्त्ता नहीं हो सकती वेदान्त दर्शन जिस कारण पर विचार करता है वह केवल निमित्त कारण है इस लिये कर्ता के लक्षण उपादान कारण में नहीं घट सकते क्यों कि उपादान कारण जड़ होने से किसी नियत वस्तु की उत्पत्ति का कारण सिद्ध नहीं हो सकता। प्रकृति को क्रियावान भी मान कर उस से जगत की उत्पत्ति कठिन है क्यों कि दो परमाणुओं में यदि चलने की लगातार शक्ति हो तो किसी भी ओर चलें उनका मिलना असम्भव है जितनी दूरी गति से पूर्व होगी वह सदैव बनी ही रहेगी। यदि निष्क्रिय मानें तो भी मिलाप नहीं हो सकता इसके अतिरिक्त उत्पत्ति और प्रलय दो गुण परस्पर विरोधी हैं।

किसी एक वस्तु के गुण नहीं हो सकते इस लिये बुद्धिमान मनुष्य की दृष्टि में कोई ऐसी दशा उपस्थित नहीं की जा सकती कि जिससे 'प्रकृति स्वभाव' अथवा आकर्षण अथवा और कोई कारण प्रकृति को जगत कर्त्ता सिद्ध कर सके।

प्रश्न—क्या-प्रकृति से संसार की उत्पत्ति नहीं होती इस को तो संसार की उत्पत्ति का कारण बड़े बड़े विद्वान मानते हैं?

उत्तर—यदि स्वभाव के मानने वालों से यह पूछा जावे कि यह "स्वभाव" द्रव्य है अथवा गुण। सक्रिय है अथवा निष्क्रिय. जड़ है अथवा चेतन, स्वाभाविककर्त्ता है अथवा प्रेरककर्त्ता। तो इन का भेद तुरन्त खुल जाता है निस्सन्देह मूर्ख और पाठशाला के विद्यार्थियों की दृष्टि में वह विज्ञान हो सकता है परन्तु बुद्धिमानों की दृष्टि में वह स्वयं कठिनाई के गड्ढे में गिरे हुए हैं दूसरों को और गिराते हैं।

प्रश्न—प्रकृति में आकर्षण शक्ति है कि जिससे वह मिल जाती है और सृष्टि की उत्पत्ति होती है?

उत्तर—यतः प्रकृति के परमाणु सब समान हैं इस लिए वह आकर्षण शक्ति से परस्पर मिल नहीं सकते। आकर्षण शक्ति से बड़ी वस्तु छोटी को तो अपनी ओर आकर्षित कर

सकती है परन्तु समान वस्तु नहीं मिल सकती इस लिये जो मनुष्य आकर्षण के मिलाप मानते हैं वह विद्वान नहीं कहे जा सकते

प्रश्न—कठोपनिषद् में जो शरीर का रूपक दिखलाया है वह जीवात्मा से सम्बन्ध रखता है क्यों कि इन्द्रियों को घोड़ा बतलाया है परमात्मा की इन्द्रियां नहीं होतीं ?

उत्तर—आत्मा शब्द से दोनों लिये जाते हैं शरीर में व्यापक होने से जीवात्मा कहलाता है और संसार में व्यापक होने से परमात्मा कहलाता है इस लिये प्रकृति को परमात्मा का शरीर मान कर आत्मा से रहित शरीर कभी कर्त्ता नहीं हो सकता इसी प्रकार प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता हो कर जगत रचना नहीं कर सकती जगत कर्ता परमात्मा ही सिद्ध होता है।

प्रश्न—उस प्रकरण में इन्द्रियों को जो घोड़े लिखे हैं वह परमात्मा में किस प्रकार हो सकते हैं ?

उत्तर—घोड़ों की आवश्यकता निर्दिष्ट स्थान पर जाने के लिये होती है परन्तु परमात्मा के वास्ते कोई पड़ाव नहीं इस लिये उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं। केवल शरीर की भाँति प्रकृति में व्यापक होने से अलङ्कार इस में भी आ सकता है।

प्रश्न—कठोपनिषद् में लिखा है कि इन्द्रियों से परे अर्थ रूप रस गन्ध इत्यादि और अर्थों से परे मन और मन

से परे बुद्धि और बुद्धि से परे जीवआत्मा और उसके परे महान मन और उस के परे अव्यक्त और अव्यक्त के परे पुरुष अर्थात् परमात्मा है उससे परे कोई नहीं। मन और बुद्धि दो बार कही गई हैं ?

उत्तर—यतः जीव के मन दो प्रकार के हैं एक मलविक्षेप आवरण युक्त मन दूसरा मल विक्षेप आवरण दोष से रहित मन। दूसरे बुद्धि दो प्रकार की है एक बन्ध जीव की बुद्धि और दूसरी मुक्ति जीव की बुद्धि इस लिए मल विक्षेप और आवरण से रहित मन महान परमात्मा का ज्ञाता होने से महान कहलाता है।

प्रश्न—सांख्य शास्त्र में महान को प्रकृति से उत्पन्न होने वाला प्रथम कार्य बतलाया है और उसको मन के नाम से बतलाया है !

उत्तर—यतः प्रकृति से जब मन उत्पन्न होता है तब इसके इन्द्रिय दोष विद्यमान नहीं होते इस लिये इस का महान संज्ञा होती है।

प्रश्न—कई एक आचार्य कहते हैं कि महान नाम ब्रह्मा की बुद्धि का है ?

उत्तर—यतः अनेक प्रकरणों में बहुधा बुद्धि का प्रयोग मन के स्थान में होता है जैसा कि न्याय दर्शन में प्रवृत्ति का लक्षण करते हुये दिखलाया है इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में

भी हो सकता है इस प्रकार विचार करने से विश्वास होता है कि अनुमान से भी हम जड़ प्रकृति को जगत कर्त्ता नहीं कह सकते। जिस प्रकार हमारा शरीर कर्त्ता नहीं कहला सकता कर्त्ता का शब्द केवल आत्मा के लिये प्रयोग किया जा सकता है।

प्रश्न—प्रकृति को शरीर नहीं कह सकते क्योंकि वह स्थूल होता है

उत्तर—सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ॥२॥

पदार्थ—'सूक्ष्म' सूक्ष्म होने से। 'तु' प्रश्नोत्तर को कथन करता हुआ ततअर्हत्वात्=योग्य होने से

पदार्थ—यतः शरीर स्थूल, सूक्ष्म, और कारण तीन प्रकार के माने गये हैं इस लिये प्रकृति को कारण शरीर माना गया है इस सूक्ष्म प्रकृति को शरीर कहते हैं इस में कोई दोष नहीं क्यों कि कारण शरीर के नाम से सब विद्वानों ने मान लिया है।

प्रश्न—शरीर प्रत्यक्ष प्रगट होता और प्रकृति को अव्यक्त कहा गया है इस लिये इस को शरीर कहना किसी प्रकार भी ठीक नहीं।

उत्तर—यदि स्थूल ही शरीर होता तो यह कथन सत्य हो सकता था परन्तु शरीर सूक्ष्म और कारण भी होता है जिस को इंद्रियों द्वारा नहीं जान सकते इस लिये यह प्रकृति शरीर नहीं कही जा सकती। प्रकृति कारण शरीर है और उससे उत्पन्न होने वाले कार्य शरीर कहलाते हैं यतः वह सूक्ष्म भूत जो संसार की उत्पत्ति का कारण होते हैं इस लिए उस को अव्यक्त भी कह सकते हैं।

तदधीनत्वादर्थवत्॥ ३॥

पदार्थ—तत् = उसके। अधीनत्व = आधीन होने से। अर्थवत्अर्थवाली है।

अन्वयार्थ—यदि इस जगत का कारण नाम रूप से रहित अव्यक्त कहलाता है तो उसके कार्य शरीर का जो इसका स्वरूप ही है अव्यक्त कहा जाना सम्भव है इस पर विचार करके आचार्य का कथन है, कि यदि हम कोई स्वतन्त्र प्रकृति को कारण मानें तो प्रधान कारणवाद नास्तिकता कहला सकता है। परन्तु हम परमात्मा के अधिकार से प्रकृति में कार्य होना तो मानते ही हैं इस लिये यह अवश्य अर्थ-वाली विदित होती है इसके बिना परमात्मा का

जगत उत्पन्न करना सिद्ध नहीं होता । क्योंकि शक्ति से रहित परमात्मा की किसी कार्य में प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती वह महापुरुष कहां हैं कि जो कहते हैं कि वेदान्तदर्शन के भाष्यकार श्री शंकराचार्य प्रकृति को नहीं मानते वह देखें और इस सूत्र के भाष्य को विचारें कि वह प्रकृति को परमात्मा के आधीन स्वीकार करते हैं और यह नियम है कि उपादान कारण कर्त्ता के सदैव आधीन हो कर ही कार्य बनता है स्वतन्त्र नहीं बन सकता । जो लोग सांख्य और वेदान्त में विरोध मानते हैं उन्हें सांख्य का वह सूत्र जिस में बतलाया है कि कर्म जगत का कारण नहीं* क्यों कि उस में उपादान कारण होने की योग्यता नहीं और वेदान्त के उस सत्र पर ध्यान देना चाहिये जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सांख्य उपादान कारणवादी है और वेदान्त निमित्तोपादान मानता है इस लिये दोनों अपनी २ प्रतिज्ञाओं पर ठीक हैं । दर्शनों में जो लोग विरोध बतलाते हैं वह केवल उन्हें न जानने के कारण ऐसा मानते हैं

---

* न कर्मण उपादानत्व योगात् । १ । ८१ । (अनुवादक)

प्रश्न—यदि प्रकृति और पुरुष एक ही मान लिये जावें तो क्या ऐसा होना असम्भव है ?

उत्तर - ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

पदार्थ—ज्ञेयत्व जानने योग्य । अवचनात्=न-बतलाया जाने से । च=भी

अन्वयार्थ—प्रकृति और पुरुष दोनों एक नहीं होसकते क्योंकि सत, रज और तम गुणों के कारण प्रकृति जानने योग्य बतलाई गई है और पुरुष गुण रहित होने के कारण जानने के योग्य नहीं ।

प्रश्न—सत किसे कहते हैं ?*

उत्तर—जिसका स्वभाव प्रकाश करना हो। अग्नि को सत्व गुण कहते हैं।

प्रश्न—रज किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो न तो प्रकाश करे और न ढँके उसे रज कहते हैं इन में वायु जल, आकाश, काल और दिशा यह पांच रज हैं ।

---

* वैद्यक शास्त्र में इन्हीं सत, रज और तम को वात, पित्त और कफ कहते हैं इनके गुण भी समान हैं। (अनुवादक)

प्रश्न—तम किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो ढांपने का स्वभाव रखता हो वह तम कहलाता है इस लिये पृथ्वी तम है इस लिये प्रकृति और पुरुष दोनों प्रथक् २ हैं। प्रकृति सत है। जीवात्मा सत चित् है और परमात्मा सत, चित्, आनन्द है। यतः परमात्मा प्रकृति के भीतर व्यापक है इस लिये प्रकृति को उसका शरीर कहते हैं। सांख्य शास्त्र में उस को प्रकृति के नाम से कहा गया है। वेदान्त शास्त्र में माया नाम से कहा है और न्याय में उसे परमाणु और भूत नाम से कहा गया है यथार्थ में सब शास्त्र एक ही हैं। सीढ़ी के डंडे यद्यपि भिन्न २ होते हैं परन्तु छत पर पहुंचने के लिये सब यथा स्थान आवश्यक हैं

प्रश्न—यह कथन ठीक नहीं कि प्रधान अर्थात् प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न किया जावे क्यों कि जो गुण ब्रह्म के हैं वह प्रकृति में पाये जाते हैं ?

उत्तर—**वदतीतिचेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात् ॥५॥**

पदार्थ—वदति=कहता है। इतिचेत्=यदि यह आक्षेप है। न=नहीं। प्राज्ञो=ज्ञानवाला। हि=निश्चय। प्रकरणात्=विषय से।

अन्वयार्थ—यदि यह कहा जावे कि जो गुण सांख्य शास्त्र में कही हुई प्रकृति में पाये जाते हैं वह ब्रह्म में भी हैं जैसे श्रुति कहती है कि न तो

उस में शब्द गुण न स्पर्श अर्थात् छुई जा सकने वाली है न रूप है वह नाश से रहित और रस अर्थात् स्वाद विरहित गन्ध हीन, उस का न आदि और न अन्त। महत से परे है और सतोगुणी है उस को जान कर मृत्यु के दुख से छूट जाता है। जैसे प्रकृति को इन गुणों से रहित बतला कर महत् से परे अव्यक्त है इसी प्रकार इस स्थान पर परमात्मा के गुणों में भी बतलाया है उपनिषद् में कथन नकरसकने योग्य होने से इसका अर्थ प्रकृति ले सकते हैं। इस के उत्तर में ऋषि कहते हैं ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उस स्थान पर विषय के अनुकूल कथन में न आ सकने वाली का वर्णन है। जो चेतन हो, न कि जड़ प्रकृति का वर्णन किया गया हो।

प्रश्न--अव्यक्त अर्थात् कथन में न आ सकने योग्य शब्द से प्रकृति जो मानी गई है उसे पुरुष कहीं नहीं कहा गया है?

उत्तर—गीता में श्री कृष्ण चन्द्र जी कहते हैं कि "जो मुझ अशरीरी को शरीरी अर्थात् देह रहित को देह वाला मानता है" वह बुद्धि से रहित है इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी कहा गया है।

प्रश्न—जब वहां अव्यक्त से भिन्न पुरुष बतलाया है जो परमात्मा का नाम है इस कारण भूत से परे अर्थात् इसका कारण प्रकृति को ही लेना चाहिये।

उत्तर—**त्रयाणांमेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥**

पदार्थ—त्रयाणां=तीनों का। एव=है। च=और। एवं-ऐसे ही। उपन्यासः=कथा। प्रश्नश्च=और प्रश्न है।

अन्वयार्थ—यतः कठोपनिषद् में जो कथा है उस में तीन प्रमा किये गये हैं और तीन ही प्रश्न किये गये हैं एक अग्नि, दूसरे जीव और तीसरा परमात्मा के सम्बन्ध में कथन हैं। जब कि उन प्रश्नों में प्रकृति के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं तो उत्तर में प्रकृति का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है। इस लिये कठोपनिषद् के विषय से जगत कर्त्ता परमात्मा ही सिद्ध होता है।

प्रश्न—यद्यपि नचिकेता के प्रश्न में 'अग्नि' है परन्तु 'अग्नि' यतः सतोगुण है जो प्रकृति के अन्य गुणों

को भी प्रकट करती है इस लिये एक वस्तु के प्रश्न से समस्त प्रश्न उपचार से ले लिये गये हैं अतः इस में तीनों नित्य पदार्थों का वर्णन है जिस में एक प्रकृति भी है।

उत्तर—यदि "अग्नि" भूत के विषय में प्रश्न होता तो यह सम्भव था परन्तु यहां यज्ञ-सम्बन्धी अग्नि जो स्वर्ग का साधन है उस के सम्बन्ध में प्रश्न है जिस से स्पष्ट प्रगट है कि प्रश्न करने वाले नचिकेता को अग्नि से कोई सम्बन्ध नहीं कि जिसे सतो गुण के नाम से कहा जाता है। क्यों कि यज्ञ की अग्नि कार्य और सतो गुण कारण रूप का नाम है इस लिये कठोपनिषद् का अर्थ ज्ञान वाले अशरीरी से है न कि अज्ञान वाली (जड़) प्रकृति से।

प्रश्न—नचिकेता के प्रश्न तीन वरों के अनुसार हैं। पूर्व प्रश्न तो नचिकेता ने अपने पिता की प्रसन्नता का वर मांगा है। दूसरे में अग्नि के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है तीसरे में आत्म विद्या का प्रश्न उठाया है इस में परमात्मा विषयक प्रश्न तीन वरों से भिन्न है इस लिये तीसरा प्रश्न जो परमात्मा के विषय में बतलाया गया है वह जीव के सम्बन्ध में है तीसरे वर का एक भाग होने से जीव के सम्बन्ध में ही है।

उत्तर—यतः सांख्य की परिभाषा में जीव "महा" शब्द "मन" का वाचक है परन्तु उपनिषदों में भी "महत्" का वही अर्थ ठीक नहीं। इस लिये जो अशरीरी (अदेह)

शब्द उपनिषद् में आया है वह जीव और ब्रह्म के लिये हो सकता है अतः आत्मा शब्द से जीव और ब्रह्म दोनों लिये जा सकते हैं इस लिये आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न से दोनों का अर्थ लिया जा सकता है इस लिये सांख्य की भांति अव्यक्त का अर्थ प्रकृति करना ठीक नहीं किन्तु उपनिषद् में उसका अर्थ परमात्मा ही करना चाहिये।

प्रश्न—क्या सांख्य की परिभाषा और उपनिषदों की परिभाषा में अन्तर है जो अव्यक्त का अर्थ परमात्मा किया जावे ?

उत्तर—**महद्वच्च ॥ ७ ॥**

पदार्थ—महत्=महत् शब्द की। वत्=भांति। च-से।

अन्वयार्थ—जिस प्रकार महत् शब्द सांख्य में मन के लिये प्रयोग में आया है परन्तु वेद में इस परिभाषा का प्रयोग ही नहीं जैसा लिखा है "महान्तं विभुमात्मानं" जो आत्मा प्रत्येक शरीर धारी के साथ संयोग रखने वाला महान परिमाण वाला सब से बड़ा परमात्मा है। जिससे बड़ा कोई नहीं इसी प्रकार के अन्य वेद मंत्रों में भी सब से बड़े के लिये

शब्द आया है* । मन अथवा बुद्धि के लिये नहीं आया । अतः वेद और उपनिषदों की परिभाषा में सांख्य से अन्तर होने से भी उस प्रकरण में अव्यक्त का अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिये न कि प्रकृति । इस लिये अनुमान द्वारा प्रकृति वेद के अनुकूल भी जगत कर्त्ता नहीं कही जा सकती ।

प्रश्न—प्रकृति को जगत कर्ता उपनिषद् मानते हैं जिस प्रकार लिखा है कि एक "अजा" अर्थात् जन्म रहित, सत रज और तमो गुण वाली जगत को स्वरूप से बनाने वाली है*२

उत्तर—चमसवद् विशेषात् ॥ ८ ॥

पदार्थ—चमसवत् = चमस की भांति (चमस एक यज्ञपात्र होता है)। अविशेषात् = कोई विशेषता न होने से ।

अन्वयार्थ—यतः यहां उत्पत्ति धर्मवान पदार्थों से होने वाली से जो तात्पर्य सत, रज और तमोगुणवाली

---

* "महतो मही यान" । वृहच्चतद् दिव्य मचिन्त्य रूपं ।

*२ अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानः स्वरूपाः । अजो ह्येको जुष माणो ऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगा मजोन्या । अनुवादक,

से प्रकृति का लिया जाता है उसके लिये कोई विशेषता नहीं। दूसरे अर्थ भी हो सकते हैं जिस प्रकार उपनिषदों में जल को शुक्ल और अग्नि को लाल और पृथ्वी को काला बतलाया है इस लिये अजा का अर्थ पृथ्वी, जल और अग्नि हो सकता है।

प्रश्न—जब कि प्रजा को भिन्न २ स्वरूप में उत्पन्न करने वाली बतलाया है इससे स्पष्ट रीति से प्रकृति ही मानना पड़ता है ?

उत्तर—जल, अग्नि, और पृथ्वी से जगत की उत्पत्ति सम्भव है इस लिए उपादान कारण मानना इनका हानि कारक नहीं !

प्रश्न—यतः बिना वायु के जीवन कठिन है और पृथ्वी और जल तथा अग्नि के भीतर वायु कही नहीं गई, इस लिए सत, रज और तम तीन गुणों वाली प्रकृति से ही तात्पर्य है और इस लिये भी कि भिन्न २ प्रकार की प्रजायें तीन गुणों से ही उत्पन्न हैं ?

उत्तर—वेदान्त शास्त्र में "ज्ञान पूर्वक क्रिया" इस श्रुति में नहीं लिखी। परन्तु प्रकृति में "ज्ञान पूर्वक क्रिया" अवैदिक है इस दशा में प्रकृति से जगत का परमात्मा के आधीन हो कर

उत्पन्न होना कहा गया सिद्धान्त विरुद्ध नहीं माना जा सकता। इस उत्तर पर यह आक्षेप किया जाता है कि—

ज्योतिरुपक्रमात् तु तथा ह्यधीयत एके ॥६॥

पदार्थ—ज्योतिः=अग्नि। उपक्रमात्=तारतम्य से क्रम पूर्वक। तु=भी। तथा=इसी प्रकार। अधीयते=पढ़ते हैं। एके=एक शाखा वाले।

पदार्थ—परमेश्वर से जन्य ज्योति अर्थात् अग्नि, जलः पृथ्वी, तीन प्रकार के भूतों को यहां 'अजा' समझना चाहिये। अर्थात् न उत्पन्न होने तीन भूतों के समूह का नाम 'अजा' है तीन गुणों की साम्या-वस्था से नहीं क्योंकि एक शाखा वाले परमेश्वर से उत्पन्न अग्नि, जल और पृथ्वी को लाल, स्वेत और काले रंग से स्वीकार करते हैं जो लाल रंग से है वह अग्नि का जो स्वेत रंग है वह जल शब्द से, जो काला वर्ण है वह पार्थिव अर्थात् पृथ्वी के परियाय से कथन करते हैं उन्हीं तीन भूतों को इस स्थान

पर स्मरण किया है । लोहित (लाल) शब्द आदि साधारण शब्द प्रयोग से यतः गुणों का वर्णन इन रंगो से हो सकता है और भूतों का संदिग्ध बोधक है इस लिये, संदिग्ध के स्थान पर यथार्थ का लेना "न्याय" कहलाता है ।

प्रश्न—श्रुति में "अजा" न उत्पन्न होने वाला बतलाया है? और दूसरे प्रकरणों में भूतों को उत्पन्न हुआ, इस लिये यह अर्थ करना ठीक न्याय संगत नहीं?

उत्तर— **कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद विरोधः ॥ १० ॥**

पदार्थ—कल्पनोपदेशः = कल्पना से उपदेश करने के कारण । मध्वादिवत् = मधु (विद्या) की भांति। अविरोधः = भेद नहीं है ।

अन्वयार्थ—जिस प्रकार मधु विद्या आदि की कल्पना कर के उपदेश किया है इसी प्रकार यहां "अजा" शब्द से उत्पन्न हुई (लोक सम्बन्धी नहीं)

किन्तु अग्नि, जल, पृथ्वी तीनो के लिये पारिभाषिक शब्द बनाया गया है संसार में "अजा" का अर्थ बकरी है परन्तु यहां लौकिक सम्बन्ध दृष्टि से "अजा" (अ=नहीं। ज=उत्पन्न होने वाली) का अर्थ प्रकृति ही हो सकता है। पृथ्वी, जल और अग्नि के लिये यह शब्द न तो पारिभाषिक होता है और न लौकिक स्वीकार किया जा सकता है। पृथ्वी, जल और अग्नि भी प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं इस लिये 'अजा' शब्दार्थ प्रकृति ही समझना ठीक है। सूत्रकार केवल इस लिये विवेचन करते हैं कि प्रकृति को स्वतंत्र जान कर भूल से प्रकृति वादियों की भांति जगत कर्त्ता न मान लिया जावे यथार्थ में वह प्रकृति को माया के नाम से मानते हैं।

प्रश्न—श्री शंकराचार्य आदि प्रकृत को ब्रह्म की शक्ति मानते हैं?

उत्तर—संसार में स्वामी की सम्पत्ति और राजा की सेना आदि उसकी शक्ति कही जाती है इस लिये प्रकृति को परमात्मा

की शक्ति अथवा क्रिया मानने में कोई दोष नहीं यदि प्रकृति स्वतंत्र और चेतन होती तो कोई दोष होता।

प्रश्न—अग्नि जल आदि उस परिमाण में जो सांख्य में आये हैं इस लिए प्रकृति "अजा" शब्द से कही गई दोष युक्त नहीं ?

उत्तर—**न संख्यो पसंग्रहादपि नाना भावा दतिरेकाच्च ॥११॥**

पदार्थ—न संख्योपसंग्रहात्=संख्या में आ जाने से। अपि=भी। नाना भावाद=एक से अधिक अस्तित्व होने से। अतिरेकाद्=अन्य गुणों से भिन्न होने से। च=भी।

अन्वयार्थ—यदि यह कहा जावे कि यतः श्रुतियों ने जो संख्या बतलाई है वही सांख्य में भी पाई जाती है। इस तादाद के कारण ज्ञात होता है कि प्रकृति से जगत की उत्पत्ति जो सांख्य ने बतलाइ है वह वेद से ही ली गई है यह कथन ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार तो अनेक स्वतंत्र अस्तित्व (सत्तायें) बन

जावेंगी। यथार्थ में समस्त सत्तायें परमात्मा के अधिकार में हैं प्रकृति परमात्मा की शक्ति तो पीछे मान ही चुके हैं और यह भी वतला चुके हैं कि इसके विना परमात्मा जगत के करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता और जीव ब्रह्म का भेद भी मान चुके हैं। केवल इन सूत्रों का यही अर्थ है कि जीव और प्रकृति परमात्मा के साथ ही सम्मिलित हैं। जिस प्रकार एक राजा के कहने से उसकी सम्पत्ति और प्रजा स्वयं सिद्ध हो जाती है क्योंकि विना सम्पत्ति के किसका स्वामी और विना प्रजा के किस का राजा हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा शब्द का अर्थ व्यापक है जो विना व्याप्य के हो नहीं सकता। यहां पर जो कुछ खण्डन किया जा रहा है वह स्वतन्त्रता की, कि वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। और संख्या में यह आपत्ति दिखलाई है कि चौवीस तत्व अचेतन हैं और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीवात्मा चेतन है परन्तु संख्या समान धर्म मान कर हुआ

करती है । प्रकृति के तत्व और पुरुष समान धर्म नहीं हो सकते इस संख्या के अतिरिक्त ब्रह्म भिन्न रहता है ब्रह्म को साथ लेने से संख्या छब्बीस हो जाती है* ब्रह्म को न मानने से सांख्य दर्शन के सूत्रों में जो ब्रह्म को माना है उसका निराकरण होता है इस लिये श्रुति में संख्या मिलने से भी प्रकृति को जगत कर्त्ता मानना जैसे कि स्वभाववादी मानते हैं ठीक नहीं ।

प्रश्न—क्या इस से सांख्य और वेदान्त में विरोध नहीं प्रगट होता ?

उत्तर—नहीं, केवल पढ़ने वालों के उस सन्देह को दूर करने के लिये है कि वह सांख्य के उपादान कारण को जगत का निमित्त कारण जो वेदान्त का विषय है न समझलें और उपनिषदों के "पंच" शब्द से पांच स्थूल भूत न ग्रहण करें ।

प्रश्न—उपनिषदों की संख्या का क्या भाव है ?

उत्तर—**प्राणादयो वाक्य शेषात् ॥ १२ ॥**

---

* सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इतिपञ्च विंशतिर्गणः । सां० ६१

पदार्थ–प्राणादयोः = प्राणआदि । वाक्य शेषात् = आगे वाक्य में विषय शेष रहने से ।

अन्वयार्थ—जिस मंत्र में "पंच २ जना" यह संख्या आई है जिससे 'पच्चीस' संख्या मिला कर प्रकृति के पच्चीस तत्व सिद्ध किये जाते हैं इस के आगे के मंत्र में ब्रह्म का स्वरूप बतलाने के लिये प्राण आदि का वर्णन है जिसमें बतलाया गया है कि वह ब्रह्म प्राणों का प्राण है आँखों की आँख है कानों का कान है मन का मन है इस शेष वाक्य से पता लगता है कि वहाँ प्रकृति के विषय से सम्बन्ध नहीं किन्तु ब्रह्म से ही उसका सम्बन्ध है ।

प्रश्न- -प्राणादि में "जन्य" शब्द का प्रयोग किस प्रकार ठीक हो सकता है ?

उत्तर—तत्वों में "जिन" शब्दों का प्रयोग भी नहीं हो सकता यह दोष दोनों और आ सकता है परन्तु आगे के विषय के कारण प्राण आदि लिये जा सकते हैं क्योंकि शाब्दिक और पारि-भाषिक अर्थ दोनों ही में नहीं पाये जाते परन्तु एक के साथ

सम्बन्ध ज्ञात होता है दूसरे के साथ सम्बन्ध भी नहीं पाया जाता।

उत्तर—वहुधा लोगों ने "पंच जन्य" शब्द के अर्थ देव, पितर, गन्धर्व असुर और राक्षस लिये हैं और बहुधा लोगों का चारों वर्ण और पांचवां निषाद ले ने का भाव है।

उत्तर—यह भी हो सकता है। आचार्य का अर्थ यह है कि यहां पच्चीस तत्व इस संख्या से नहीं लेने चाहियें।

प्रश्न—माध्यन्दिनी शाखा वाले तो पांच जन्य से प्राण आदि ले सकते हैं परन्तु कण्व शाखा वाले क्या लें?

ज्योतिषै केषाम सत्यन्ने ॥ १३ ॥

पदार्थ—ज्योतिषि = ज्योति में। एकेषां = कण्व शाखा वालों में। असति = न होने पर = अन्ये = दूसरे।

अन्वयार्थ—माध्यन्दिनी शाखा वाले तो उस स्थान पर पाँच जन्य शब्द से प्राण अर्थ लेते हैं और कण्व शाखा वाले पाँच ज्योतियां लेते हैं परन्तु प्राण शब्द का सम्बन्ध तो ज्ञात होता है क्योंकि

वह उस स्थान पर आता है ज्योति शब्द उस स्थल पर आता नहीं इस लिये इस को लेना ठीक नहीं दोनों शाखा वालों में कोई इस पंचजन्य शब्द को पच्चीस तत्व नहीं लेते। इस पर आक्षेप करते हैं कि ब्रह्म जगत का कारण है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः।१४।

पदार्थ—कारणत्वेन = श्रुति में कारण पन से। आकाशादिषु = आकाश अग्नि, आदि में। यथा = जिस प्रकार। व्यपदिष्टोक्तेः = उपदेश करते हुये कहा है।

अन्वयार्थ—वेदान्त में ब्रह्म को जगत का कराण कहीं नहीं कहा केवल आकाश तेज आदि का कारण कहा है इस लिये न ब्रह्म जगत का कर्त्ता है न ही जगत ब्रह्म का विषय है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान समान कहा गया है श्रुतिओं में उत्पत्ति के विषय में जो भेद है अर्थात् प्रत्येक वेदान्त के ग्रन्थ में भिन्न २ प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति देखी जाती है और

और क्रम में भी भेद है कहीं लिखा है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। यहां पर सब से पूर्व आकाश की उत्पत्ति वतलाई। कहीं वतलाया कि उसने तेज को उत्पन्न किया यहां तेज अर्थात् अग्नि से उत्पत्ति का क्रम आरंभ किया। कहीं वतलाया कि उसने प्राण को उत्पन्न किया यहां प्राण से उत्पत्ति का क्रम आरम्भ हुआ कहीं सिद्ध मनुष्यों की उत्पत्ति वतलादी कि परमात्मा ने इन लोगों को उत्पन्न किया कहीं यह वतलायाकि यह सृष्टि नास्ति से उत्पन्न हुई अर्थात् अस्तिकार्य वाद वतलाया कहीं सृष्टि सत् से उत्पन्न वतला कर सत्कार्यवाद को कह डाला और असत्कार्यवाद का खण्डन किया है कि असत् से कहीं सत् हो सकता है*कहीं जगत का वनना स्वयम् मानते हैं और यह भी वतलाया कि वह स्वयं नाम

---

*(१) नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः। सत से असत और असत से सत कभी नहीं होता।

और रूप से विकार को प्राप्त होगया इस प्रकार वेदान्त के उपदेश में विरोध होने से पाया जाता है कि ब्रह्म सृष्टि कर्त्ता नहीं किन्तु सृष्टि का कर्त्ता कोई और ही है जो स्मृति और न्याय से सिद्ध है अर्थात् प्रकृति जगत का कारण है जब कि वेदान्त के ग्रन्थों में स्वयं मेल नहीं तो किस प्रकार कहा जा सकता है इस पर कहते हैं कि यह जितने वाद हैं वह सब वेदान्त के सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिये हैं कि जिस से अन्य मतवाला वेदान्त के सिद्धान्तों का खण्डन न कर सके। क्योंकि यदि मनुष्य ने किसी तर्क को सुना न हो तो इसको सुनते ही उत्तर देने के स्थान में घबरा जाता है और यदि सुनी हुई बात हुई तो उसे कोई घबराहट नहीं होती और स्वष्ट कह देता है इस लिये वेदान्त के पंडितों ने जितने प्रकार के वाद हो सकते हों अपने ग्रन्थों में पहिले से ही उनका वर्णन कर दिया है तुरन्त एक सौ आठ वाद वेदान्त के आचार्यों ने

दिखला कर इन का खण्डन किया है इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं।

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

पदार्थ—समाकर्षात्=वादानुवाद करके सत्य कहने से।

अन्वयार्थ—यतः जानने की इच्छावालों को जब तक दोनों ओर का विचार न करा दिया जावे वह यथार्थ बात को नहीं पहुंच सकता। इस लिसे वेदान्त के आचार्य प्रत्येक विचार को जो जिज्ञासु के लिये यथार्थ ज्ञान के मार्ग में रुकावट प्रतीत होता है उसे प्रमाणों युक्तियों और हेतुओं से प्रमाणित करके जिज्ञासु की परीक्षा करते हैं और पीछे से उसका खण्डन बतला देते हैं इस लिये वेदान्त का मुख्य तात्पर्य एक ही है शेष सर्ववाद केवल जिज्ञासु की बुद्धि विचक्षणता के लिये दिये हैं जैसे कहा कि ब्रह्म असत् है यदि चैतन्य असत् है जो नियमानुकूल

किस प्रकार क्रिया हो सकती है । जड़ प्रकृति में क्रियावान वस्तु मानने से कोई सक्रिय वस्तु और कोई निष्क्रय हो नहीं सकती और न ही परमाणुओं में संयोग हो सकता है क्योंकि सक्रिय पदार्थों में यदि समान गति हो जो परमाणुओं की दशा में सजात होने से आवश्यक रूप से मिल जाना कठिन है यदि निष्क्रिय माना जावे तब भी प्रकृति में संयोग नहीं हो सकता और संयोग के बिना संसार बन नहीं सकता इस प्रकार ब्रह्म का अस्तित्व (अस्ति) मान कर उससेसृष्टि की उत्पति को सम्भव सिद्ध करके बतलाया है इसी प्रकार वेदान्त के विषयों पर जो विचार किया है वह सब जिज्ञासुओं की योग्यता और सृष्टि के भीतर जो महा प्रलय से पूर्व भिन्न २ प्रकार के प्रलय होते हैं उसको बतलाने के कारण और यह बतलाने के लिये कि कहीं कारण परम्परा से कथन किया जाता है कहीं साक्षात् । जिस प्रकार बहुधा ईसाई कहते हैं कि मसीह इब्राहीम का बेटा

था जिसका यह अर्थ है कि क्रम से मसीह का सम्बन्ध हब्राहीम से हैं इस प्रकार के कारण होने से न तो वेदान्त के वाक्यों में विरोध है भेद हैं किन्तु सब वाक्य अपने २ स्थान पर आवश्यक हैं जैसे कोई बालक अपने पिता से प्रश्न करे कि मनुष्य किसे कहते हैं तो जिस प्रकार वह एक एक अंग को समझाने के लिये बतला कर उसे ज्ञान करावे कि इस समुदाय का नाम मनुष्य है इसी प्रकार उपरोक्त विषय है।

प्रश्न—कौषीतिकी ब्राह्मण में बालाक्य जाति शुत्रोद की कथामें सुना है कि जो बालाक इन पुरुषों का कर्ता कि जिसका यह कर्म है वह जानने योग्य है कहा है यहाँ पर क्या जीव जानने के योग्य है अथवा प्राण जानने के योग्य हैं या परमात्मा। क्यों कि गुणों से तीनों प्रगट हैं। सब मनुष्यों में गति प्राणों के द्वारा ही होती है यदि इंजिन में भाप न हो, पेट में भोजन और अग्नि न हो तो गति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसके सिवाय जीवका धर्म ज्ञान और प्रयत्न है और कर्म प्रयत्न से होता है इस से जीव ही विदित होता है। ब्रह्म को पुरुषों का कर्ता होना भी अनेक स्थानों में लिखा है इस लिये शंका उत्पन्न होती है कि यहां पर किस का भाव लेना चाहिये।

उत्तर—**जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥**

पदार्थ—जगत=अर्थात् संसार का । वाचित्वात्= प्रकट करने वाला होने से ।

अन्वयार्थ—यतः उस प्रकरण में पुरुष शब्द जगत के विषय में आया है और जगत को उसका कर्म अर्थात् बना हुआ कहा है इस लिये प्राण भी जगत कर्त्ता नहीं हो सकते जैसा कि पूर्व सिद्ध कर चुके हैं और न जीव कर्त्ता ही कहा जा सकता है। जगत कर्त्ता केवल ब्रह्म ही हो सकता है और इसका यही अर्थ लेना चाहिये ।

प्रश्न—वहां पुरुषों का कर्ता बतलाया है न कि जगत का कर्ता ?

उत्तर—पुरुष जगत का एक बड़ा भाग है इस लिये जगत के विषय में ही पुरुष शब्द आया है जैसे कोई कहता है कि रणजीत सिंह लाहौर के राजा थे वहाँ उसका अर्थ यह कि जिस देश की राजधानी लाहौर है उस सब देश का राजा है । यतः पुरुष की बनावट सब से अधिक है इस लिये पुरुष शब्द जगत के विषय में आया है ।

प्रश्न--पुरुष तो जीव और ब्रह्म का नाम है। न तो ब्रह्म का कर्त्ता-ब्रह्म हो सकता है और न जीवों का इस लिये यह कथन ठीक नहीं!

उत्तर—अत: जीव को पुरुष उस समय कहते हैं जब वह पुरी अर्थात् शरीर में रहता हो और विना शरीर के इसकी पुरुष संज्ञा हो नहीं सकती इस लिये शरीर का कर्त्ता होने से वह पुरुष का कर्त्ता कहलाता है इस लिये ब्रह्म जो जगत कर्त्ता है वही जानने के योग्य है

प्रश्न—जब कि उस घाक्य में आये हुये प्राण शब्द लिखे गये जो जीव का लिङ्ग अर्थात् चिन्ह है अथवा मुख्य प्राण से भाव है इस से ब्रह्म जानने योग्य यह भाव किस प्रकार लिया जावे ?

उत्तर— **जीव मुख्य प्राण लिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ॥ १७ ॥**

पदार्थ—जीवमुख्य=इस प्रकरण में जीव ही मुख्य है। प्राण लिङ्गात्=इस का चिन्ह प्राण विद्यमान रहने से। न=नहीं। इतिचेत्=यदि ऐसा हो। तत् = उसका। व्याख्यातम्=पूर्व उत्तर दे चुके हैं।

पदार्थ—प्राण लिङ्ग से जीव अर्थ लेना चाहिये तब यह कथन ठीक नहीं कियोंकि पूर्व इस पर विचार कर चुके हैं। इस स्थान पर पुरुषों का कर्त्ता होने से ब्रह्म ही लेना चाहिये। इस पर जैमिनि आचार्य अपनी सम्मति देते हैं।

अन्यार्थन्तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

पदार्थ—अन्यार्थन्तु = दूसरे अर्थ के लिये। जैमिनि = व्यास जी के शिष्य जैमिनि जी मानते हैं। प्रश्न व्याख्यानाभ्यां=प्रश्न और उसके विवाद के देखने से। अपि=भी। च=और। एवम् = इसी प्रकार। एके = कोई विद्वान् मानते हैं।

अन्वयार्थ—जैमिन आचार्य कहते हैं कि इस स्थल पर विवाद करने की आवश्यकता नहीं कि इस वाक्य में जीव अर्थ लेना चाहिये अथवा ब्रह्म। क्योंकि कौशीतकी ब्राह्मण में जो इस स्थान पर

प्रश्नोत्तर हैं उन से स्पष्ट विदित होता है कि वहां प्रश्न यह है।

प्रश्न—"सोते हुये मनुष्य के जागने से प्राण" आदि से भिन्न जीव में जीव से भिन्न कोई विषय जाना जाता है! बालाकि यह मनुष्य कहां सोता है। कहां यह उत्पन्न हुआ है! यह कहां से आया है?

उत्तर—जब यह सोकर किसी स्वप्न को नहीं देखता उसमें प्राण समता भाव के हो जाते हैं और यह जीव एक ओर लग कर ब्रह्म के आनन्द को भोगता है अर्थात् सोने की दशा में जीव बाहर के विषयों को छोड़ कर एक ब्रह्म के आनन्द को लेता है और फिर उस आत्मा से प्राण विभक्त हो कर इंद्रियों को जगाते हैं और उससे सब संसार जागता है।

प्रश्न—क्या सोने की दशा में जीवोपाधि को त्याग कर ब्रह्म नहीं हो जाता?

उत्तर—ब्रह्म में उपाधि आ नहीं सकती इस लिए ब्रह्म जीव नहीं बनता। जब ब्रह्म जीव बना नहीं तो उपाधि कथन ही व्यर्थ है फिर उपाधि के नाश से जीव ब्रह्म कैसे बन सकता है। निस्सन्देह सुषुप्ति दशा में जीव का सम्बन्ध बाहर की वस्तुओं से मिट कर अपने भीतर होने से इस को ब्रह्म के गुण और आनन्द की प्राप्ति होती है इस प्रकरण में पर वाजसनेयी शाखा

वाले जीव को बतला कर और उसके भीतर रहने वाले ब्रह्म को ही जानने योग्य मानते हैं इस पर और युक्ति दी जाती है

वाक्यान्वत् ॥ १६ ॥

पदार्थ—वाक्यान्वयात्=वाक्य योजना से ।

अन्वयार्थ—बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि हे ! मैत्रेयि *पतिकी इच्छा से पति को प्रेम नहीं करते किन्तु आत्मा की इच्छा से, इसी प्रकार पुत्र की इच्छा से पुत्र से प्यार नहीं करते किन्तु आत्मा की इच्छा से इसी भांति बतलाते हुये कहा है कि सब की इच्छा से सबको प्यार नहीं करते किन्तु आत्मा की इच्छा से सब को प्यार करते हैं आत्मा ही अये मैत्रेयी ! देखने सुनने और जानने के योग्य है केवल एक आत्मा के जान लेने से ही सब का ज्ञान हो जाता है आत्मा के सुनने और मनन करने और ठीक रीति पर जानने से यह सब जगत जाना जाता है । यहां

---

* न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, इत्यादि । बृ० । ४ । ५ । ६ ।

पर यह सन्देह होता है कि इस स्थान पर जीवात्मा को देखने, सुनने और जानने के योग्य वतलाया है अथवा परमात्मा को प्यारा कहने से तो भोगनेवाला जीवात्मा विदित होता है ? और आत्मा के जानने से सब का ज्ञान हो जाने के कारण परमात्मा का ज्ञान होता है परन्तु जब पूर्णतया विचार करके देखते हैं तो स्थान पर परमात्मा ही का विश्वाश होता है क्योंकि सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ इसी में पाया जाता है क्योंकि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था कि इस धन से मुक्ति की आशा नहीं इस पर मैत्रेयी ने कहा कि जिससे मैं मुक्त न हों उस से मुझे लाभ न होगा इस परलिये जिससे मैं मुक्त हो जाऊं आप उसी का उपदेश करें इस पर याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण आत्मोपदेश किया। क्योंकि मुक्ति सिवाय परमात्मा के जानने के और किसी के ज्ञान से नहीं हो सकती इस लिये यहां आत्मा के शब्द से परमात्मा ही लेना चाहिये ।

प्रश्न—यदि आतमा शब्द से परमात्मा लिया जावे तो क्या परमात्मा के लिए धन, पुत्र, स्त्री, इत्यादि प्रिय होती हैं। यह किस प्रकार सम्भव है इस लिये इस का भाव जीवात्मा ही लेना चाहिये ?

उत्तर—यतः जीवात्मा में आनन्द की न्यूनता है जिस से उस की कमी पूरी हो उसी की इच्छा होती है इस लिये धन में आनन्द समझ कर इस की इच्छा पूर्ति करता है। पुत्र में आनन्द समझ कर इस की कामना को पूरा करता है। स्त्री को आनन्द समझ कर उस की इच्छा को पूरा करता है। वस्तुतः प्रत्येक कामना आनन्द की इच्छा से होती है और आनन्द सिवाय परमात्मा के दूसरे में है नहीं इस लिये समस्त इच्छायें परमात्म प्राप्ति के ही लिए हैं! इस पर आश्मरथ्य आचार्य अपनी सम्मति देते हैं!

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

पदार्थ—प्रतिज्ञा = दृढ़ वचन। सिद्धेः = सिद्ध हो जाने से। लिङ्गम् = परमात्मा के जानने का चिन्ह। आश्मरथ्यः = आश्मरथ्य आचार्य कहते हैं।

अन्वयार्थ—यतः यह प्रतिज्ञा कि इस एक आत्मा के जानने से सब ही जाना जावेगा इस प्रतिज्ञा का

प्रमाणित होना कि परमात्मा के ही जानने से सब जाना जा सकता है यह चिन्ह इसका विद्यमान है कि याज्ञवल्कय और मैत्रेयी की कथा में आत्मा शब्द से परमात्मा ही लेना चाहिये। इस प्रकार आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं नहीं तो प्रतिज्ञा सिद्ध नही हो सकती ?

प्रश्न—यह किस भांति सम्भव है कि एक परमात्मा के जानने से सब कुछ जाना जावे ?

उत्तर—मनुष्य शरीर ब्रह्माण्ड का चित्र है जिस प्रकार संसार के चित्र और भूगोल से जगत का ज्ञान होता है। जब मनुष्य शरीर के भीतर अन्नमयकोष से विचार करेंगे तो अन्त में ब्रह्म का ही ज्ञान होता है अतः अन्तिम के ज्ञान से पूर्व वालों का ज्ञान होगा ही ! जैसे कोई कहे कि घर की पैड़ी (ज़ीने) की एक सीढ़ी चढ़ने से सब पर चढ़ जाता है अतः जो सोपान की अन्तिम पैड़ी पर चढ़ जायगा वह सब को जान जावेगा।

प्रश्न—बहुधा आचार्य इस प्रकरण में जीव ब्रह्म का अभेद मानते हैं।

उत्तर—अभेद के कारण हम पूर्व ही कह चुके हैं कि जिस प्रकार दर्पण सन्मुख रखते ही आंख और काजल का एक साथ

ज्ञान होता है इसी प्रकार एक साथ ही जीव और ब्रह्म का ज्ञान होता है जब मन शुद्ध और स्थर होगा तब ही दोनों का ज्ञान होगा।

प्रश्न—न्याय दर्शन में तो मन की परिभाषा *(लक्षण) यह है कि जिस के कारण एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। आप जीव ब्रह्म का एक साथ कैसे ज्ञान मानते हैं।

उत्तर—दो इन्द्रियों के विषयों का एक साथ ज्ञान नहीं होता जीव और ब्रह्म दो इन्द्रियों के विषय नहीं इस लिये एक साथ ज्ञान हो सकता है। इस पर औडुलोमि आचार्य की सम्मति इस प्रकार है।

उत्क्रमिष्यत एवं भावा दित्यौडुलोमिः
॥ २१ ॥ *२

पदार्थ—उत्क्रमिष्यतः=पूर्व अवस्था को त्यागन कर जाने वाले जीव को। एवंभावात्=परमात्मा

---

* ज्ञाना यौग पद्यादेकं मनः। ३। २। ६० और युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम। १। १। १६ न्याय के प्रमाण हैं कि मन एक काल में दो बातें नहीं मनन कर सकता (अनुवादक)

* इस सूत्र पर भी दर्शनानन्द जी ने भाष्य नहीं किया और न वेदान्द दर्शन में ही प्रेस की अनवधानता से स्थान पा सका। इस लिये मैं ने इस पर टीका लिख दी है। (अनुवादक)

की प्राप्ति होने से एकता का कथन है। इति = ऐसा। औडुलोमिः = औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

अन्वयार्थ—शरीर को छोड़ कर यह जीव परमात्मा को प्राप्त होता है जिस प्रकार सब नदियां वह कर समुद्र में आती है इसी प्रकार नाम और रूप को छोड़कर मुक्त पुरुष उस दिव्य गुण युक्त परमात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् वहां कोई किसी का देखने वाला नहीं न सुनने वाला ही होता है इस लिये अभिन्नता है। यह औडुलोमि आचार्य का पूर्व पक्ष समझना चाहिये। इस पर काशकृत्स्नाचार्य की सम्मति प्रकट की जाती है कि—

अवस्थिते रिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

पदार्थ—अवस्थितेः=उस में रहने से। काशकृतस्नः इतिः = काशकृत्स्नाचार्य मानते हैं।

अन्वयार्थ—यतः जीव के भीतर ब्रह्म है जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद के वाक्यों से सिद्ध होचुका है

इस लिये जीव और ब्रह्म का एक साथ ही ज्ञान होता है और ब्रह्म के जानने से ही सब की मोक्ष होती है इस लिये आत्मा शब्द से ब्रह्म का ही अर्थ लेना चाहिये।

प्रश्न—यतः श्रुति ने यह लिखा है कि इस जीवात्मा से "अनु प्रवेश" कर के नाम रूप वाला जगत बनाया। जिस से स्पष्ट है कि ब्रह्म को एक दशा जीव है?

उत्तर—*"अनु" शब्द से ही सिद्ध है कि जीव और ब्रह्म भिन्न २ हैं क्योंकि यदि प्रवेश करके कहते तो परमात्मा और माया दो होते एक प्रवेश करने वाला दूसरे जिस में प्रवेश किया परन्तु "अनु" शब्द ने तीन सिद्ध किये अर्थात् एक प्रकृति, जिस में प्रवेश किया। दूसरे जीव, जो प्रवेश हुआ और तीसरा परमात्मा जो अनु प्रवेश हुआ इस लिये सब के भीतर होने से परमात्मा का ज्ञान अर्थात् सब का ज्ञान भी हो सकता है!

प्रश्न—यदि जीव और ब्रह्म को एक ही मान लिया जावे तो क्या दोष है?

---

* महदणु ग्रहणात्। न्या० ३। १। ३१।
"महत्सूक्ष्म ग्रहणात्"। अणोरणीयान्। कठ २। २०।
"एषुऽणुरात्मा"। इत्यादि प्रमाण हैं।

उत्तर—पहिले तो श्रुतियां और सूत्र अप्रमाणित होंगे जिनमें भेद बतलाया है दूसरे उन श्रुतियों के विरोध होने से अभेद वाली श्रुतियां भी अप्रमाण हो जावेगी जब श्रुति और सूत्र अप्रमाण होंगे तो वेदान्त शास्त्र हो प्रमाण न रहेगा॥*२

प्रश्न—यदि भेद वाली श्रुति को उपाधिकृत भेद और अभेद वाली को साक्षात् अभेद में लगावें तो क्या दोष है ?

उत्तर—इस दशा में जीव के भीतर ब्रह्म नहीं कहा जा सकता जैसा कि श्रुति में कहा है इस प्रकार का कोई दृष्टान्त

---

* काशकृत्स्नाचार्य यह मानते हैं कि "अततीत्यात्मा" अर्थात् जो सब स्थानों में व्यापक हो उस को आत्मा कहते हैं भगवान शंकराचार्य जी उक्त सूत्र का अद्वैतवाद के भावों के अनुसार यह भाष्य करते हैं कि जिस में नाना प्रकार के अर्थाभासों से जीव परमात्मा बन कर सब में स्थित है। श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं कि "अभदोभिधान मिति काश कृत्स्नाचार्य मन्यते" क्योंकि "यत्रहिद्वैतमिव भवतितदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्व मात्मैवा भूत्तत्केन कं पश्येत इस बृहदारण्यक की श्रुति से जब कोई किसी को नहीं देखता और सब अपना आप ही है तो यह काश कृत्स्नाचार्य के मत सम्मत है परन्तु भगवान शंकर इस को पूर्व पक्ष मान कर लिखते हैं कि "विज्ञानात्म परमात्मनोर विद्या प्रत्युप स्थापित नाम रूप रचित देहाद्युपाधि निमित्तो भेदो न पारमार्थिक इत्येषोर्थः सर्वैं वेदान्त वादिभिरभ्युपगन्तव्यः" परन्तु यहाँ पर कौषीतिकी ब्राह्मण के अनुसार और "यस्य च एतद् कर्मेति" कथन से जीव का वर्णन नहीं है किन्तु केवल ब्रह्म का वर्णन है और अभेदवाद की गन्ध भी नहीं है। (अनुवादक)

नहीं जहां उपाधिकृत भेद से एक दूसरे के भीतर जासके इसमें आत्माश्रय दोष है इसी प्रकार के और भी अन्यदोष हैं।

प्रश्न—यतः हम जगत को मिथ्या मानते हैं इस लिये :यह सब दोष भी मिथ्याही हैं श्रुति भी जगत के भीतर होने से मिथ्या ही है इस लिये जब सब दोष मिथ्या हैं तो मिथ्या से हमारी क्या हानि हो सकती है ?

उत्तर—जब जगत में होने से श्रुति और अन्य दोष मिथ्या हैं तो आपका यह वाक्य भी कि जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म का भेद नहीं जगत के भीतर होने से मिथ्या ही होगा जब यह वाक्य मिथ्या हुआ तो इसके विरुद्ध सत्य होगा कि जगत सत्य है और जीव ब्रह्म का भेद है।

प्रश्न—यदि यह माना जावे कि जगत सत्य है तो जगत में होने से हमारा यह वाक्य भी सत्य होगा कि जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म का भेद नहीं।

उत्तर—यतः इस वाक्य को सत्य सिद्ध करने के लिये जगत का सत्य होना परम आवश्यक है कि जिससे इस वाक्य का खण्डन होता है इसलिये जगत के निराकरण को दशा में यह वाक्य असत्य सिद्ध होता है और जगत के मिथ्या होने की दशा में भी जगत के भीतर होने से मिथ्या है इस लिये दोनों दशाओं में मिथ्या होने से जीव और ब्रह्म के अभेद की प्रतिज्ञा गिर जावेगी।

प्रश्न... जो ब्रह्म जगत का कारण सिद्ध किया गया है वह निमित्त कारण ही है और उपादान कारण नहीं ?

उत्तर—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानु
परोधात् ॥ २३ ॥

पदार्थ—प्रकृतिः=उपादान कारण । च=भी । प्रतिज्ञा=वचन से । दृष्टान्त=उदाहरण । अनुपरोधात्=विरोध न होने से ।

अन्वयार्थ—यदि ब्रह्म को जगत का निमित्त कारण मान लिया जावे तो प्रकृति को उपादान कारण मानना पड़ेगा । जिस प्रकार घट का बनाने वाला कुम्हार है अथवा अभूषणों का बनाने वाला स्वर्ण कार है इनका उपादान कारण स्वर्ण और मिट्टी भिन्न २ हैं इस प्रकार से मानने से इस प्रतिज्ञा में अन्तर आजावेगा कि जिस एक के जानने से सब जाने जाते हैं और दृष्टान्त जो दिये हैं वह सब उपादान कारण के दिये हैं उन से भी विरोध होगा

इस लिये ब्रह्म को जगत का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों मानना चाहिये ।

प्रश्न—यह किस प्रकार सम्भव है कि किसी वस्तु का कारण उपादान और निमित्तकारण दोनों एक ही हों? इस में दृष्टान्त का अभाव है।

उत्तर—सूत्र कार उस आक्षेप का खण्डन करते हैं कि यदि प्रकृति न हो तो ब्रह्म जगत को किस प्रकार और किस से बनावे। वह कहते हैं कि हमारा आत्मा शब्द कहने से ही दोनों भाव आजाते हैं जिस प्रकार मकड़ी वाले दृष्टान्त में दोनों जीव और शरीर एक मकड़ी शब्द से लिये जाते हैं यहां ब्रह्म को वह माया सहित मानते हैं। अकेला नहीं मानते। क्यों कि एक में ही केवल आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि बिना व्याप्य के व्यापक कहला नहीं सकता।

प्रश्न—दोनों कारण क्यों कर माने जा सकते हैं!

उत्तर - **अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥**

पदार्थ—अभिध्योः = भेद से नित्य। उपदेशात् = उपदेश करने से। च = भी।

अन्वयार्थ—यथा आत्मा शब्द का उपदेश करते हुये इस के व्यापय को भिन्न नहीं बतलाया और

विना व्यापय के व्यापक कहला नहीं सकता इस लिये आत्मा शब्द मिश्रित है जो विना व्याप्य के कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार मकड़ी का दृष्टान्त भी जीव और शरीर के भेद के विना ही दिया गया है अर्थात् वहां शरीर और जीव में भेद होते हुये भी एक कहा गया है। इस उपदेश से जिस प्रकार मकड़ी जाले का उपादान कारण और निमित्ति कारण दोनो हैं इसी भांति आत्मा को जो व्याप्य से मिश्रित है जगत का निमित्ति और उपादान कारण दोनों कह सकते हैं परन्तु जब भेद से उपदेश करेंगे तब दोनों भिन्न २ होंगे। जब दूसरे के विषय में अपने को पृथक करते हैं तब "मैं" शब्द से शरीर और 'जीव' दोनों लेते हैं परन्तु जिस समय आप विचारते हैं तब शरीर रहित और अपने को "मैं" कहते हैं इस प्रकार प्रथकत्व से रहित उपदेश करने से आत्मा दोनों कारण (निमित्ति और उपादान) हो सकता है।

प्रश्न—इस भांति दोनों क्यों मानें ? ठीक प्रकार जो जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध है और ब्रह्म जगत का निमित्त कारण युक्तियों और प्रमाणों से लिया जाता है क्यों न किया जावे ?

उत्तर—**साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥**

पदार्थ—साक्षात्=स्पष्ट रीति से। च–भी। उभय=दोनों। अम्नानात्=वेद से उपदेश मिलने से।

अन्वयार्थ—यतः श्रुति ने आत्मा शब्द से दोनों अर्थ निकलते देख कर स्थान २ पर दोनों कारणों का उपदेश इस लिये किया है कि कहीं ईश्वर को परतंत्र मान कर संसार के उत्पन्न करने में अशक्त न मान लिया जावे जिस प्रकार मनुष्य शरीर के आधीन नहीं होता। क्योंकि मनुष्य शरीर और जीव मिश्रित क्रिया का नाम है जिस प्रकार राजा भसम्पत्ति के आधीन नहीं होता क्यों कि राजा वही कहलाता है कि जिस की भू–सम्पत्ति हो इसी प्रकार आत्मा भी सृष्टि करने में प्रकृति के आधीन (आश्रित) नहीं। क्योंकि वह उसके पास सर्वदा से है।

प्रश्न—जब कि परमात्मा बिना प्रकृति के जगत को नहीं बना सकता तो वह जगत बनाने के लिये प्रकृति के आधीन क्यों नहीं ?

उत्तर—जिस की आवश्यकता होती है उस के बनाने की आवश्यकता होती है जिस को बनाने की आवश्यकतानहीं होती वह उस के आधीन नहीं होता जैसे किसी के पास खाने को रोटी न हो उसे रोटी के आधीन कहते हैं परन्तु जिस धनवान के पास रोटी हो और यद्यपि खाता वह भी है परन्तु उस को रोटी के आधीन नहीं कहते। इस लिये जिस परमेश्वर को प्रकृति के उत्पन्न करने की आवश्यकता होगी वह तो प्रकृति के आश्रय कहलावेगा परन्तु जिस के पास अनादि काल से प्रकृति विद्यमान है वह उस के आश्रित (आधीन) किस प्रकार हो सकता है।

प्रश्न—यदि परमेश्वर के पास प्रकृति न हो तो वह जगत उत्पन्न नहीं कर सकता इस लिए वह प्रकृति के ही आश्रित कहलावेगा ?

उत्तर—यदि परमेश्वर के पास प्रकृति न हो तो वह परमेश्वर ही नहीं कहला सकता। क्यों कि परमेश्वर का अर्थ सब से अधिक सामग्री के स्वामी के हैं जिस के पास सम्पत्ति नहीं वह स्वामी कैसा ? परमेश्वर उस दशा में कहलाता हैं जब कि उस की सम्पत्ति नित्य हो !

प्रश्न—परमेश्वर में प्रकृति के उत्पन्न करने की शक्ति है इस लिये गुण सम्पत्ति के अधिकारी होने से वह स्वामी कहलाता है ?

उत्तर—यह तो उभयतः सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि जगत को प्रकृति से परमेश्वर बनाता है। एक प्रतिज्ञा यह है कि इस स्वामी की सम्पत्ति अनादि नित्य है दूसरी ओर यह है कि उसको प्रकृति के भी उत्पन्न करने की सामर्थ है। पहिली दशा में वह पराधीन नहीं क्यों कि वस्तु विद्यमान है। दूसरी दशा में जितनी देर उत्पत्ति करने में लगेगी उतनी देर तक पराधीन मानना पड़ेगा क्योंकि परतन्त्र कर्त्ता स्वतन्त्र क्रिया के आधीन होता है (जैसे मनुष्य मिट्टी से घट बनाने में इस लिए परतन्त्र है कि यदि प्रकृति के परमाणुओं में बनने की स्वतन्त्र क्रिया विद्यमान न हो तो किसी भी प्रयत्न के करते हुए भी मनुष्य घट नहीं बना सकता और इस परतन्त्रता को कर्त्ता की शक्ति से बाहर मानकर परतन्त्रकर्त्ता कहा जाता है अर्थात् जब तक जिस पदार्थ में वह क्रिया विद्यमान है कि जिसके अनुकूल क्रिया की जा रही है तो कुछ साधन सिद्ध हो सकेगा अन्यथा नहीं। संसार में कोई अग्नि के स्तम्भ के ओर आकाश का आंगन नहीं बना सकता वह तो केवल पृथ्वी के परमाणुओं से ही बन सकेगा कि जिस में उस के मनन का धर्म विद्यमान है चाहे कर्त्ता कितना ही स्वतन्त्र अपनी क्रिया में क्यों न हो—अनुवादक) अतः इस प्रकरण में ईश्वर को स्वतन्त्र कर्त्ता मानना पड़ेगा इस पर जितने आक्षेप उत्पन्न होते हैं उनका उत्तर मिलना कठिन है। इस लिये तीनों को अनादि मानना ही ठीक है जो केवल एक आत्मा के शब्द से ही जाने जाते हैं।

प्रश्न—ब्रह्म ने आत्मा को बनाया इस से आत्मा का जन्म होना पाया जाता है दूसरी ओर आत्मा को नित्य बतलाया गया है?

उत्तर— आत्मकृते परिणामात् ॥ २६ ॥

पदार्थ—आत्म कृते=आत्मा कर्म है। परिणामात्=रूप रहित होने से।

अन्वयार्थ—ब्रह्म को जो आत्मा का कर्त्ता बतलाया गया है इसका कारण यह है कि जब शरीर में जीव जाता है तब उसकी आत्म संज्ञा होती है क्यों कि आत्मा का अर्थ व्यापक है जो व्याप्य के बिना हो नहीं सकता अतः जब ब्रह्म जीव को उस का व्याप्य अर्थात् शरीर देते हैं तब आत्म संज्ञा अर्थात् नाम आत्मा होता है और शरीर भिन्न २ प्रकार के हैं इस में जा कर निराकार आत्मा पृथक् भांति का विदित होता है इस रूपान्तर से इसको बना हुआ कथन किया गया है यथार्थ में वह नित्य है इस लिये उस को नित्य होते हुये भी इस परिवर्त्तन के कारण बना हुआ कह सकते हैं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य जगत को कार्य नहीं मानते और ब्रह्म के कारण होने को भी अस्वीकार करते हैं?

उत्तर—**योनिश्चगीयते ॥२७॥**

पदार्थ—योनिः=कारण। च=भी। गीयते=वेदों में गाया गया अर्थात् बतलाया गया है।

अन्वयार्थ—वेदों और उपनिषदों में ब्रह्म को जगत की योनि कहा गया है यह शब्द उपादान कारण में अथवा स्थान में प्रयोग किया जाता है जिस प्रकार कहा है कि जो मनुष्य. जगत कर्त्ता पुरुष को अथवा ब्रह्म को जो जगत की योनि है। इसके अतिरिक्त श्रुति कहती है कि जो भूतों की योनि (उत्पत्तिस्थान) है और जिसे धीर मनुष्य देखते हैं* यहां पर योनि शब्द *२ उपादानकारण के कारण प्रयोग में आया है। क्योंकि लोक में पृथ्वी को औषधि

---

* शास्त्र योनित्वात्।

*२ यत्तदद्रेश्यमग्राह्य मगोत्र मवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणि पादम्। नित्यं विभुं सर्वं गतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भुत योनिं परि पश्यन्ति धाराः। मुण्डक। १। १। ६ (अनुवादक)

की योनि बतलाते हैं इस कारण उपादान कारण विचार करके मकड़ी का दृष्टान्त भी उपनिषदों ने दिया है जिससे स्पष्ट विदित है कि माया सहित ब्रह्म को जगत का उपादान और निमित्त कारण बतलाया है। शुद्ध ब्रह्म को नहीं। अतः प्रकृति और पुरुष दोनों ही हुये जो इस जगत के निमित्त कारण और उपादान कारण कहलाते हैं। अकेला ब्रह्म निमित्त कारण और अकेली प्रकृति उपादान कारण सिद्ध होती है अब अन्तिम सूत्र कहते हैं।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याता॥ २८॥

पदार्थ—एतेन = इस नियम से। सर्वे = सब ही। व्याख्यात् = जगत कर्त्ता विषयक प्रकरण। व्याख्याता॥ वर्णन किये गये हैं।

अन्वयार्थ—जिस प्रकार प्रकृति को स्वतंत्र जगत कर्त्ता होने का खण्डन करने के लिये उसमें ज्ञान पूर्वक, कर्त्ता न होने का खण्डन पांचवें सूत्र पाद एक से

लेकर यहां तक भिन्न २ प्रकार के आक्षेप करके की गई है उसी से और मनुष्य भी जो पांच भूतों को स्वतंत्र जगत का कारण मानते हैं अथवा आकर्षशा से जगत की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं अथवा जो दो प्रकार की विद्युत शक्ति अर्थात् अस्ति और नास्ति से या एक मिलाने वाली दूसरी अलग करने वाली से जगत उत्पन्न होना मानते हैं इस प्रकार के जो और पाद (अध्याय) अर्थात् ब्रह्म को कारण न मान कर वर्णन की गई हैं सब का खण्डन हो जाता है। यतः यह वेदान्त शास्त्र उन मनुष्यों के लिये है जो कि दर्शन और उपनिषद् से अर्थ को जान सकें इस लिये संक्षेप से सब मतों का खण्डन किया है। स्वभाव वादियों के प्रत्येक भांति के तर्क का इस से खण्डन हो जाता है अतः वेदान्त दर्शन अध्याय एक का चौथा पाद समाप्त हुआ और प्रथमाध्याय भी समाप्त हो चुका। परमात्मा की दया से शेष भी शीघ्र ही समाप्त हो जावेगा। यह अनुवाद अत्यन्त टूटा फूटा

है जबकि मेरी ही बुद्धि में अपूर्ण है तो अन्य विद्वानों की समझ में कैसे पूर्ण हो सकता है इस लिये जहां दोष दिखलाई दे मुझे सूचित करें। यद्यपि समस्त प्राचीन आचार्य जीव और ब्रह्म का भेद मानते हैं जैसा कि व्यास जी के सूत्रों से निश्चित होता है। आज कल माया वाद का नाम मनुष्यों ने वेदान्त रख दिया है जो यथार्थ में ठीक नहीं। वेदान्त मनुष्य की आत्मा को बलवान, परोपकारी पुरुषार्थी, बनाता है और माया वाद आलसी और स्वार्थी बना कर हानि प्रद है। वेदान्ती अन्तः करण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्मों का करना एक आवश्यक विचार है और माया वादी निष्काम होना ही चाहता है परन्तु सकाम है श्री शंकराचार्यजी तो अपनी विश्वहित (वसीअत) में यह लिखते हैं कि वेद को नित्य पढ़ो और वेदानुकूल कर्म नित्य करो। और इन का व्यवहार भी बतलाता है कि उन्हों ने बुद्धि आदि नास्तिकमतों के खण्डन करने में

इतना पुरुषार्थ किया है कि संसार चकित है। अर्थात् बाईस वर्ष की अवस्था में कार्यारम्भ करके ३२ वर्ष की अवस्था में संसार त्याग दिया। दश वर्ष में इतना काम आश्चार्य में डालता है। इधर माया वादियों से जब कहा जाता हैं कि आप कुछ उपदेश करके सुधार करो तो वह कहते हैं कि संसार के कांटे दूर नहीं किये जाते केवल अपने पावों में जूते पहिनलो। अर्थात् जब वेदान्ती कहला कर गेरुये वस्त्र पहिन कर वैराग्य का स्वांग धारण करके स्वार्थी और विलास प्रिय बने रहना बतला रहे हैं तो यह किस प्रकार वेदान्ती कहे जा सकते हैं। श्री शंकरा चार्य जी आत्म बोध का अधिकार उसको देते हैं जिसने तप से पापों का नाश करके मन को शुद्ध कर लिया हो। जिसने ईश्वर की उपासना से चित्त को शान्त कर लिया हो। जिसने वैराग्य का स्वांग धारण न किया हो किन्तु जिसके हृदय के भीतर चक्रवर्ती राज्य से लेकर संसार के समस्त सुख आत्मा

के लिये हानि कारक ही सिद्ध हुये हों। यद्यपि मायावाद और वेदान्त में वहुत ही अन्तर है जिस से मायावादी अविद्या और स्वार्थ में फंस कर विपरीत कर्म कर रहे हैं। प्रत्येक वेदान्त के पाठक को चाहिये कि वह जीवात्मा को नित्य मान कर निर्भय होकर धर्म प्रचार करे जैसा कि श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने किया। प्रत्येक वेदान्त विचारने वाले को चाहिये कि वह शरीर को भोग के अधिकार में करके अपने यथार्थ लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में लग जावे। आज दिन संसार में जितने विपरीत कर्म हो रहे हैं उन को दूर करने के लिये पूरा प्रयत्न और पुरुषार्थ करे। जो मनुष्य भोजन छादन में अहर्निशि लगे रहें और संसार के उपकार का कभी ध्यान न दें वह यथार्थ में वेदान्त को कलंकित करते हैं। हम मानते हैं कि संसार मिथ्या है क्या इसका यह अर्थ है कि संसार का अस्तित्व ही नहीं? किन्तु यह भी मिथ्या है। मुक्ति के लिये जगत के पदार्थ

मिथ्या साधन हैं। जो मनुष्य जगत की वस्तुओं से मुक्ति चाहते हैं वह मिथ्या काम करते हैं। मुक्ति के लिये ब्रह्म ही एक सत्य साधन है और शेष सब साधन ब्रह्म की प्राप्ति के हैं अतः माया वाद के आलस्य को त्यागन करके यदि एक भी सच्चा वेदान्ती बन जावे तो मैं अपने पुरुषार्थ को सफल समझ सकता हूं। ओ३म् शम्।

इति श्री इष्टा पथ पुरी (इटावा) प्रान्तर्गत लखुना ग्राम वास्तव्य शांडिल्य गोत्रि श्री पं० लाल मणि दीक्षितात्मज श्री पं० चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित सुनु श्री पं० गोकुल चन्द्र दीक्षित कृते ब्रह्म सूत्रे आर्य भाषा भाष्ये प्रथमाध्या यस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। सम्वत् १ ग्रह ६ शशि ८ वेद ४ वसु। माघ शुक्ल भृगुवार। श्री वसन्त पाचें सुभग। किय अनुवाद विचार।

टिप्पणी-श्री भाष्य कार श्री रामानुज स्वामी इस अध्याय की समाप्ति में अपने वेदांत भाष्य में लिखते हैं कि "एतैर पाद चतुष्टयोत्तमर्थं कलापेन सर्वं वेदान्तेषु जगत कारण प्रतिपादन परः सर्वे वाक्य शेषाश्चेतनाऽचेतन विलक्षण सर्वज्ञ सर्व शक्ति ब्रह्म प्रति पादन परा व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्याय परि समाप्ति द्योतनार्थः। श्री०भा०

ब्र० सू० १ । ४ । २८ अर्थात् " जो युक्तियां का समूह कहा गया है उससे स्पष्ट है कि शेष वाक्य भी जड़ चेतन से विलक्षण, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् ब्रह्म के प्रति पादक हैं ।" (अनुवादक)

विशेष-" एतेन सर्वे व्याख्याता " इस अन्तिम सूत्र को श्री शंकराचार्य जी ने परमाणुओं के खण्डन करने में लगाया है और सांख्य शास्त्र की प्रकृति का खण्डन किया है परन्तु श्री भाष्य कार ने न्याय संगत अर्थाभास नहीं किया जो श्लाघ्य है । शंकर मतवादी केवल प्राचीन ऋषियां केसके का खण्डन ही नहीं करते किन्तु अपशब्द भी प्रयोग करते है जैसे " स्वाराज्य सिद्धिः " नामक पुस्तक में " तेन कपिलेन दुष्टः " अर्थात् उस दुष्ट कपिल ने कहा है कटु वाक्य का प्रयोग किया है इसी भाँति " अद्वैत सिद्धि " में मधुसूदन सरस्वती ने कहा है " इति कुमतिरत वे तत्व वादी वराकः । प्रलपति पद काण्डे खण्डनामास मुच्चैः × × × ग्रामसिंहस्य सिंहः यहाँ वैशेषिक वादियों को कुत्ता बतलाया है इसी प्रकार और भी प्रमाण हैं ।

(अनुवादक)

॥ ओ३म् ।

परिशिष्ट विषये वेदान्त रहस्य व्याख्या लिख्यते

सम्प्रति भारत वर्ष तथा इससे इतर देशों में भी एक प्रकार का ईश्वर जीव और प्रकृति विषयक विचार पाया जाता है कि जिस में प्रत्येक विचार शील ने अपने २ विचारों के अनुकूल उसका निर्णय किया है। भारतवर्ष तो वेदान्त सम्बन्धी विचारों का घर ही है परन्तु इसी के विचार आधार शिला पर जो २ मानवी विचार के प्रासाद बने हुये हैं उन से एक भिन्न ही रोचकता आगई है। प्रत्येक विचार वाला अपने २ मत का प्रवर्त्तक बन कर उसके अनुयाइयों की वृद्धि करने में तत्पर है परन्तु इसका निर्णय नहीं किया गया कि यह विचार कहां तक संगत हैं और जिन भावों के उत्पादक यह विचार होने चाहियें उनके विपरीत तो मनुष्य नहीं चल रहे हैं प्रत्युत इसके वह अपने २ को सत्यवादी कह कर प्रचार में लगे हुये हैं संसार भर के समस्त वेदान्त सम्बन्धी विवादों का केन्द्र भारतीय वेदान्त शास्त्र है यह वेदान्त वेद, श्रुति और रहस्य ग्रन्थ अर्थात् उपनिषदों के आधार पर रचा गया है यहां पर यह विचार करना है कि जो समस्त संसार में वेदान्त सम्बन्धी चर्चा है वह कहां और किस प्रकार है? उसका क्या स्वरूप होना चाहिये और क्या विद्यमान है देशी तथा विदेशी इस वेदान्त सम्बन्धी भावों को किस प्रकार व्यक्त करते हैं। यद्यपि यह एक गहन विषय है और विस्तार चाहता है तथापि

संक्षेप से सब मतों के विचारों को जो एक ही विषय के विचार करने में किस प्रकार प्रथक २ हो गये हैं उनका दिग्दर्शन सप्रमाण कराये जाने का प्रयास किया जाता है विदग्धे हृदय पूर्वापर विचार कर यथार्थ भावों पर पहुंचने की चेष्टा कर मनोर्थ सफल करेंगे। यह परम प्रसिद्ध बात है कि वेद भगवान सत्य विद्याओं का भंडार है उस से पुरातन हो नहीं किन्तु ऐसे पूर्ण बुद्धि पूर्वक तर्क सिद्ध विषयों का अन्य भंडार अभी तक संसार में दूसरा नहीं मिला है उस से मथ कर निकाला हुआ त्रैवाद (ईश्वर जीव और प्रकृति) सात्विक बुद्धि से संगत लगा कर समझने में सुगम है अन्यथा कठिन प्रतीत होता है और इन कठिनाइयों के कारण ही अनेक पंथ बन गये हैं परस्पर प्रेम के स्थान में जीव जीव का शत्रु बन गया है। इस प्रकार के हठ धर्म से मोक्ष जैसा दुर्लभ पदार्थ तो मिलना दुर्लभ ही है किन्तु संसार सुलभ प्रेमानन्द भी नष्ट हो कर जगत की स्थिति नष्ट होती चली जाती है इस लिये विचार कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग ही सरल उपाय है। अब हम यहां उन छः ख्यातियों का वर्णन आरम्भ करते हैं जो वेदान्त के निर्मल चन्द्रमा को घनघोर घटाओं की भांति छुपाये हुये हैं इन भ्रमस्थलों में भ्रमित धुरन्धर विद्वान आत्मानन्द की प्राप्ति के स्थान में आत्मानन्द खो रहे हैं। भारतीय वेदान्त विचार में बौद्ध सम्प्रादाय में "विज्ञान वादी" कि जो यह मानते हैं कि सब पदार्थ आत्मा में ही हैं और बाहर उनकी मिथ्या प्रतीत होती है इस लिये केवल एक मात्र "विज्ञान" ही सत्य है जो स्वयं भी बाह्य पदार्थ विज्ञान से भिन्न नहीं होता। वही पदार्थाकार प्रतीत होता है और इस प्रकार की वाद विवाद प्रक्रिया का नाम उनके मत में "आत्मख्याति"

माना जाता है। इसी वौद्ध सम्प्रदाय की दूसरी माध्यमिक वौद्ध शाखा वाले मानते हैं कि जिस प्रकार सीपी आदि पदार्थों में रजत की प्रतीत होती है और वह सत् नीं होती इस लिये वह सव वाह्य शून्य होने से अपने को शून्य वादी कहते हैं और अपने सिद्धान्त का नाम "असतख्याति" रखा है। श्री प्रभाकर आदि मीमांसक अपने सिद्धान्त वाद को "अख्याति" के नाम से पुकारते हैं। एक सम्प्रदाय इन्ही के अन्तर्गत ऐसा मानता है कि सीपी में जो चांदी के अंशो का भ्रम होता है वह एकत्रित होकर रजत स्वरूप की प्रतीत कराते हैं और रजत प्रतीति का ज्ञान झूठा भी नहीं है इसलिये यह "सतख्याति" है इसलिये इसविचार को "सतख्याति" वाद कहा जाता है। अव एक सव से बड़ी ख्याति अनिर्वचनीय ख्याति कहलाती है यह श्री शंकराचार्य के अनुयाइयों की है यह अनिर्वचनीय ख्याति उसी प्रकार है कि जिस प्रकार विज्ञान वादी वौद्ध मानते हैं जेसा श्री शंकराचार्यजी का कहना है कि सीपी में जो चांदी का भ्रम है वह "अनिर्वचनीय रजत" है क्यों कि न उसे सत्य कह सकते हैं न झूंठ दोनोंसे विलक्षण प्रतीति होने से उनके मत में आत्मा से भिन्न समस्त भाव पदार्थ भ्रम मात्र हैं इस में सव से वड़ा प्रमाण जो वह देते हैं वह ऋग्वेद ८।७।१७।१ का "न सदा सीन्नी सदा सीत दानमि" आदि मंत्र है क्यों कि इस मंत्र में वतलाया गया है कि इस सृष्टि रचना से पूर्व "न सत् था" न असत् इस लिये सतासत से विलक्षण ही कुछ था वही अनिर्वचनीय है इस लिये भी शंकर मत अनिर्वचनीय ख्याति का मानने वाला है। इसके पश्चात नैयायिकों और वेदिक वेदान्तियों की ख्याति का नाम "अन्यथा ख्याति" है उनके मत में एक ही पदार्थ में दो भिन्न २ पदार्थों का प्रतीत होना विपय सिद्ध इस को

प्रमाणित करती है कि इन्द्रिय दोष संस्कार दोषाश्चाविद्या कि जो इन्द्रिय, दोष और संस्कार दोष से मिथ्या प्रतीति हैं अन्यथा ख्याति है और उपरोक्त बाधाओं के दूर होने से यथार्थ ज्ञान हो जाता है ऐसी दशा में अध्यास आरोपित कर वृथा आडम्बर की आवश्यकता नहीं। क्यों कि द्रष्टा के ज्ञान में चांदी और सीपी दोनों ही पूर्व से विद्यमान हैं। यदि यह पूर्व ज्ञान न हो तो द्रष्टा न तो चांदी ही को कह सकता है और न सीप को ही बतला सकता है और जहां वेद मंत्र में यह कहा है कि रचना से पूर्व न सत् था न असत् वहां यह मंत्र अव्यक्त प्रकृति का वर्णन करता है कि इस कार्य रूप जगत से पूर्व वह अव्याकृत सत् इस लिये न था कि वह कार्य रूप में न था इस लिये उसका कोई ज्ञाता भी न था और असत् इस लिये नहीं था कि वह प्रकृति भाव रूप थी वह अभाव रूप न थी यदि प्रकृति आभाव रूप और कार्य रूप जगत क्रिया का कोई अन्य अर्थ हो सके तो अनिर्वचनीय ख्याति हो सकती थी परन्तु वह न होकर अन्यथा ख्याति ही माननी पड़ती है। सारांश यह कि भारतीय सम्प्रदाय के आचार्यों में इस वेदान्त दर्शन पर श्री शंकर भाष्य रामानुजाचार्य का श्री भाष्य मध्वाचार्य का पूर्ण प्रज्ञ भाष्य, श्री वल्लभा चार्य का अणुभाष्य आदि २ ग्रन्थों * में नाना प्रकार के वाद विवाद के साथ एक दूसरे के मन्तव्यों का खण्डन मण्डन किया जा कर कोई अद्वैतवादी विशिष्टा द्वैतवादी शुद्धाद्वैतवादी तथा द्वैतवादी बन कर सम्प्रदाय

---

* मेरी इच्छा थी कि सर्वदर्शन संग्रह और नव दर्शन संग्रह से क्रमशः रमेश्वरादि दर्शनों का दिग्दर्शन कराता कि जो पारे से ही समस्त सृष्टि का उतपन्न होना मानते हैं परन्तु विस्तार भय से न कर सका।

रचना में सफल हुये हैं श्री शंकर के शारीरिक भाष्य पर वाचस्पति मिश्रु की भामती टीका, और श्री भाष्य पर सुदर्शन की श्रु त प्रकाशिका टीका आदरणीय हैं। इन दोनों के अतिरिक्त श्री नील कण्ठ का "शैव्य भाष्य" भी उतना ही आदरणीय हैं कि जितने विज्ञान भिक्षु, भास्कर, यादव मिश्र, निर्वाक, वल्लभ, सौर भाष्य, वलदेव कृत गोविन्द भाष्य की ख्याति है अब मुझे यहां यह वतलाना है कि यह सब प्रयास किस उद्देश्य की सिद्ध के निमित्त था उसको वतलाने से पूर्व यह कहना असंगत न होगा कि उपरोक्त ग्रन्थों में जिस विषय को समर्थन किया गया है वह या तो अद्वैत वाद है और उस के विपरीति विशिष्टाद्वैतवाद की ही सिद्धि पाई जाती है। इन दोनों में दोनों वादों की प्रवलता भी हे अद्वैतवाद के आचार्य श्री शंकरा चार्य जी हैं और विशिष्टाद्वैत वाद के प्रवर्त्तक श्री रामानुजाचार्य हैं। श्री शंकराचाय जी अपने मत की सिद्ध में एक पुष्ट प्रमाण यह देते हैं कि यह सिद्धान्त " उपवर्ष " मुनि के अनुकूल है यह " उपवर्ष ' मुनि परम वैय्याकरण पाणिनिमुनि के गुरु थे। श्री रामानुज स्वामी वोधायन कृत भाष्य के अनुगामी हो कर विशिष्टाद्वैतवाद को वैदिक प्रमाणित करते हैं परन्तु रामानुजाचार्यजी अपने से पूर्व विशिष्टाद्वैत वादियों में अरुचि, कपर्दी, द्रमिड़, टङ्क, गुह देव और वोधायन को मानते हैं विशिष्टा द्वैतवाद पर एक प्रमाणित ग्रन्थ श्री यामुनाचार्य कृत "सिद्धि त्रय" नामक उपलब्ध है। श्री रामानुजा चार्य ने वेदार्थ संग्रह, वेदान्त दीप, वेदान्त सार' गद्यत्रय, आदि अनेक ग्रन्थ रचे और विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की है। अद्वैत वादियों ने श्री शंकरा चार्य कृत "चरण चिह्न" के अनुसार पंचदशी, अद्वैतसिद्धि, ब्रह्म सिद्धि, चित्सुखी, पंचपादिका

खण्डन खाद्य, वेदान्त परिभाषा, वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली और वेदान्त सार ग्रन्थ रचे हैं। तात्पर्य यह कि इन दोनों दलों ने वह वेदान्त पर विवाद किया है कि जिसकी माया से आज भारत वर्ष के कोने २ में शंकर और रामानुज का भक्त बना हुआ एक दूसरे को कोसता है परमार्थ वस्तु से निरन्तर दूर कषाय वेष अथवा जटिल मुण्डित वेष भारत सन्तान ब्रह्म का भेद पाने की लालसा से इतस्ततः भ्रमित हो रही है और जो होना चाहिये था उसके स्थान में जिसकी आशा न थी वह हो रहा है। श्री शंकर द्वारा बौद्ध सिद्धान्त का ह्रास हुआ परन्तु श्री रामानुज ने श्री शंकर के सिद्धान्तों के प्रति कुछ उठा न रक्खा। श्री भाष्य में माया वाद वह प्रबल तार्किक शक्ति से निराकरण किया कि जिस की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता। अब हम क्रमशः इन्हीं मतों का, एक ही सिद्धान्त पर जिस प्रकार मत विरोध रखते हैं विवेचन करेंगे।

श्री शंकराचार्य जी यह मानते हैं कि " जीवो ब्रह्मैव ना परः " जीव ही ब्रह्म है उन के मत में जीव का स्वरूप " नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सत्य स्वभावं प्रत्यक् चैतन्य मेव आत्मतत्त्वम् " जैसा कि वेदान्त सार ग्रन्थ में लिखा है कि जीव नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सत्य स्वभाव चैतन्य वस्तु है तथैव वांङ् मनसातीतं अविषयान्तः पाति प्रत्यगात्मभूतं नित शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावं ब्रह्म अर्थात् उसी प्रकार नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म है जो जीव रूप में बैठा हुआ है इस मत के समर्थन में ब्रह्म विन्दु से " एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्। और दूसरी श्रुति यथाह्ययं ज्योतिरात्मा

रित्वस्थान् अतोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा सारांश यह कि एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत में विराज रहा है । जैसे जल में एक ही चन्द्रमा अनेक हो कर दीखता है । जिस प्रकार ज्योति स्वरूप सूर्य एक हो कर भी भिन्न २ जलाशयों में अनेक हो कर दिखलाई देता है इसी प्रकार द्यु तिमान आदि परमात्मा क्षेत्र भेद से अनेक रूप भासता है । और इसी लिए महावाक्य (वेद) जीव ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करते हैं तत्व मसि, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽहं अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् तू ही वह है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । मैं ही वह हूं । मैं ब्रह्म हूं परन्तु जीव ब्रह्म का सजातीय पदार्थ नहीं । किन्तु उसमें कोई भेद ही नहीं । गौड़ पादाचार्य कहते हैं कि जीव और ब्रह्म की प्रथक् २ प्रतीति माया के कारण है यदि भेद होता तो अमृत मर्त्य होता अतः दोष रूप उपाधि से कारण ब्रह्म को ही जीव कहा जाता है । तथापि ब्रह्म उपाधि रहित है वह उपाधि मुक्त है सच्चिदानन्द है जब जीव ब्रह्म ही है तब जीव भी सच्चिदानन्द है । विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि जीव प्रकाश स्वरूप अक्षेय तथा अपरोक्ष है क्यों कि सत्य, ज्ञान, और अनन्त लक्षण ब्रह्म के जीव में भी हैं जीव और ब्रह्म नाम मात्र को भेद वाला है जैसे घटाकाश और महाकाश । विद्यारण्य स्वामी यहां पर स्वयं प्रश्न उठाते हैं कि यदि जीव ही ब्रह्म है तो उसको सांसारिक यातनायें क्यों होती हैं इस का उत्तर इस प्रकार दे कर समाधान करते हैं कि यह शुद्ध बुद्ध मुक्त होने पर भी अविद्या के कारण जीव देह आदि उपाधियों से आक्रान्त होता है क्योंकि काम क्रोधादि यद्यपि सब देह और मन के धर्म हैं जीव के नहीं परन्तु जीव देह संयोग से दुखी सुखी होता अथवा मानता है

जिस प्रकार बालक आव... वो ोला व हैं उसी प्रकार ज्ञान शून्य आत्मा को मलिन जानते हैं यह जीव महेश्वर की लीला माया वश मोह शक्ति से मोहित हो कर शरीर से सम्बन्ध जोड़ लेता है और ईश्वरीय भावों को खो कर दुखी होता है। जिस प्रकार रस्सी में सांप का भ्रम है इसी प्रकार सांसारिक भ्रम है परन्तु वास्तव में यह कुछ भी नहीं। इस भ्रम को दूर करने का उपाय अद्वैत मत में यह माना है कि इस भ्रम की जननी अविद्या को ही दूर करना चाहिये। जब यह ज्ञान दृढ़ हो जावे कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं तब अविद्या निवृत होती है अतः यही ज्ञान मुक्ति का भी कारण है। अद्वैत मत में मुक्ति साध्य वस्तु नहीं किन्तु सिद्ध वस्तु है गौड़ पादाचार्य मानते हैं कि वास्तव में न आत्मा की उत्पत्ति है न विनाश, न बन्धन, न मोक्ष, न साधना है और न मुमुक्षा है अर्थात् जीव का बन्धन श्रुति को मनोनीत नहीं है इस में कण्ठ चामीकर का इतिहास प्रमाण में देते हैं। इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य गुरु के समीप समिधा ले कर जावे और जाने कि ब्रह्म क्या है ? उपनिषद् में ब्रह्म के दो विभाग हैं एक निर्विशेष और निर्गुण भाव दूसरा सविशेष अथवा सगुण। निर्गुण ब्रह्म का कोई लक्षण नहीं हो सकता अतः यह निरूपाधि है और श्रुति भी नेति २ कहती है इसी लिये दो प्रकार की बातें पाई जाती है कि वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं, ह्रस्व तथा दीर्घ नहीं, शब्द, स्पर्श, रूप और क्षय नहीं। ब्रह्म के बाहर भीतर, पहिले पीछे कुछ नहीं है वह अदृश्य, आग्राह्य, अगोत्र अवर्ण है, हाथ पांव आँख कान नहीं है उस को प्रज्ञा अन्तर्मुख अथवा वहिर्मुख नहीं वह उभय-मुख तथा प्रज्ञान घन भी नहीं प्रज्ञतथा अप्रज्ञ भी नहीं इत्यादि कारणों से अनिर्देश्य, अनिरुक्त, और अवाच्य है। वह धर्मा धर्म

काय कारण से एवं अतीत से भिन्न है परन्तु इतना कहने पर भी श्री शंकराचार्य मानते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म को निर्विशेषभाव और सविशेष भाव प्रदर्शक दोनों प्रकार की श्रुतियाँ विद्यमान हैं इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म को ही श्रुति प्रतिपाद्य विषय माना है और सविशेष ब्रह्म का प्रत्याख्यान ब्रह्म सूत्र ३।२।११ के भाष्य में किया है और सगुण ब्रह्म का परिचय देते हुये उपनिषदों के अवतरण दिये हैं। जैसे वह नित्य का} नित्य है चेतन का चेतन है। वह अणु से भी अणु और महान् से महान् है। सब का प्रभु और ईश्वर है। वह सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी है भूतों का उत्पत्ति और लय का स्थान है बिना इन्द्रियों के ग्रहण करता है पाप हीन जरा, जन्म, शोक, मोह क्षुधा तृषा हीन सत्य काम और सत्य संकल्प है। अद्वैत वादियों के मत में यह सगुण ब्रह्म महेश्वर कहलाता है इस की पारमार्थिक सत्ता नहीं यह काल्पनिक है पंच दशी कार को मानना पड़ा कि माया रूपी कामधेनु के दो बछड़े हैं एक जीव दूसरा ब्रह्म, दोनों ही मायिक अवस्तु हैं उनके द्वारा चाहे द्वैत सिद्ध हो जावे पर तत्व अद्वैत है। इसी प्रकार ब्रह्म माया उपाधि से ईश्वर है और अविद्या उपाधि से जीव परन्तु यह प्रतीत झूठी है केवल सच्चिदानन्द वस्तु है ईश्वर जीव उपाधिकल्पित हैं केवल ब्रह्म निरुपाधि है। माया ब्रह्म शक्ति है। माया और ब्रह्म अभिन्न हैं। अद्वैत वादी माया को सत्य और मिथ्या सत् और असत् कहते हैं। अद्वैत वादियों में ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षण किये जाते हैं स्वरूप लक्षण और तटस्थलक्षण उन के मत में ब्रह्म को छोड़ कर कोई पदार्थ सत् नहीं। जो कल था आज नहीं आज नहीं सो कल न था इत्यादि जाग्रत स्वप्नावस्था भी नहीं वह सुषुप्ति में भी नहीं

किन्तु सकल अवस्था में विद्यमान है था और रहेगा वह नीचे ऊपर आगे पीछे दाहिने बायें आदि सर्वत्र है जो कुछ है आत्मा है वह विजातीय, सजातीय, और स्वगत भेद रहित है वह न द्वैत है न अद्वैत है, न जात है न अजात है। असत् तथा सत् उस में द्वन्द नहीं हैं अद्वैत वाद में इस प्रत्यक्ष जगत को किस प्रकार मिथ्या मानते हैं उन का कहना है कि रस्सी में सांप, सीप, में चाँदी, सूर्य किरणों में मरीचिका का जिस प्रकार भ्रम है उसी प्रकार ब्रह्म में जगत का भ्रम है। प्रबोध चन्द्रोदयकार लिखता है कि जैसे रज्जु का ज्ञान होने पर सर्प भ्रम दूर हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने पर जगत भ्रम मिट जाता है परन्तु इसकी जो प्रतीति है वह ब्रह्म की माया शक्ति में दो सामर्थ्य है एक आवरण दूसरी विक्षेप। आवरण शक्ति से जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है और विक्षेप शक्ति से जगद् रूप भ्रम का साधन होता हैं। अद्वैत वादी कहते हैं कि संकल्प के बल से ब्रह्म माया शक्ति के द्वारा जीव को जगत का भ्रम उत्पन्न कराता है यह ऐन्द्रजालिक चूड़ा मणि जीव को क्या मोहित करता है। अद्वैत वाद के इस विवर्त का यह फल हुआ कि पाश्चात्य देश के "बर्कले नामक विद्वान ने विज्ञानवाद को स्थान दिया उसके अनन्तर ह्यूम, मिल, आदि शून्य वादियों से जा मिले। तथापि भ्रम का आधारत्व ब्रह्म होने से अद्वैत मत शून्य वाद से बढ़ कर है। अद्वैत वादियों के मत में ब्रह्म ही जगत रूप में विवर्तित हो रहा है जैसे दूध का दही बनता है दही दूध से भिन्न वस्तु से नहीं बनता परन्तु ब्रह्म इस प्रकार नहीं किन्तु अक्षुण्य रूप से विवर्तित होता है उसमें परिणाम नहीं होता कूटस्थ अवस्था में प्रत्यय अथवा परिवर्त्तन नहीं होता। श्री शंकरा

चार्य यह नहीं मानते कि जगत स्वप्न की भाँति असत्य है वह प्रश्न उठा कर समाधान करते हैं कि जाग्रत अवस्था की भाँति स्वप्न में भी पारमार्थिक सृष्टि है अथवा मायामय सृष्टि है " स्वप्न में सत्य सृष्टि है इसका खण्डन कर के कहा है कि स्वप्न का देखा हुआ माया है इत्यादि आशंका कर के ब्रह्म सूत्र ३। २। ३ तथा २। १। १४ के भाष्य में लिखा है कि आकाशादि की सृष्टि नितान्त सत्य है य: बात नहीं। समस्त प्रपंच माया मात्र है अत: स्वप्न और जगद् सृष्टि का यही भेद है कि स्वप्न दृष्ट प्रपंच नित्य दूर होता रहत है परन्तु आकाशादि प्रपंच ब्रह्म के साथ आत्मा का एकत्व वोध हुये विना दूर नहीं होता अत: स्वप्नसृष्टि मायिक विशेष है। शंकराचार्य के गुरु गौड़ पाद स्वामी जगत को स्वप्न सृष्टि की भाँति मिथ्या मानते हैं उक्त गुरु गौड़पादाचार्य की कारिका के भाष्य पर श्री शंकर स्वामी लिखते हैं कि स्वप्न ग्राह्य ग्राहक विषय इन्द्रिय रूप द्वैत की वास्तविक सत्ता नहीं है केवल विज्ञान मात्र है जाग्रत में भी यही वात है दोनों अवस्थाओं में विज्ञान ही सृष्टि रूप में प्रतीत होता है यह विज्ञान अत्यन्त सत्य है। ४। ३०। ३१ इसी भाव को सिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द इस प्रकार जापन करते हैं कि स्थावर जंगम जो जगत दीखता है यह प्रतीत मात्र है। परन्तु अद्वैतवादी जगत की व्यावहारिक सत्ता अवश्य मानते हैं। व्यवहार भाव में जगत सत्य है परन्तु न जाने यथार्थ में जगत सत्य है इसको मानने में क्यों आपत्ति है। हर्बर्टस्पेन्सर भी सत्य और मिथ्या का ऐसा ही लक्षण करते हैं कि जो निर्वाध है वह सत्य है अद्वैतवादी भी कहते हैं कि किस चिन्ह से सत्य और मिथ्या जानें केवल किस का वाध है वही मिथ्या

है और अवाध सदा सत्य है। श्री शंकर स्वामी मानते हैं कि ब्रह्म के सिवा कुछ नहीं और ब्रह्म ही जगत का उपादान और निमित्त कारण है सांख्यवादियों का जो जगत का स्वाधीन कारण मानते हैं उसका खण्डन करते हैं।। अद्वैत मत में जीव और जड़ जगत दोनों ही असत्य हैं दोनों अविद्या जनित व्यवहारिक सत्ता हैं पारमार्थिक नहीं! अद्वैत मत में ईश्वर वा सगुण ब्रह्म की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं ब्रह्म सूत्र २। १। १५ के भाष्य में श्री शंकर स्वामी ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि ब्रह्म पारिमार्थिक सत्ता नहीं। अद्वैत वादी निश्चलदासजी विचार सागर में मंगला चरण करते समय इतने असमंजस में पड़े कि प्रमाण करना दुर्लभ हो गया और किसी को प्रणाम न करते हुए ग्रन्थ बना डाला। अद्वैत वाद में भक्ति का स्थान न होते हुए भी उपासना का स्थान है परन्तु वह वैसी उपासना नहीं कि जैसी भक्ति के साथ भक्त करता है वह केवल एक प्रकार का विशेष चिन्तन है उसके भी तीन भेद हैं। अङ्गावबद्ध प्रतीक और अहङ् संग्रह। इस प्रकार ब्रह्म चिन्ता करते २ ब्रह्म की अवश्य प्राप्ति हो जाती है और इस भोग के अनन्तर जिस समय शरीर पात होता है उस समय एकी भूत हो जाता है। जीवन मुक्त को प्रारब्ध के क्षय पर्य्यन्त विलम्ब होता है। पुनः ब्रह्म में लीन होता है साधारण जीवों की देह नाश के पश्चात उत्क्रान्ति होती है। इत्यादि मानते हुए जीव को परम ज्योति लाभ मानते हैं। श्री शंकराचार्य सगुण और निर्गुण उपासना के तारतम्य का निर्देश करते हैं। अणिमादि सिद्धि मानते हैं और ब्रह्म ज्ञानी की ऐकान्तिक कैवल्य सिद्धि (विदेह मोक्ष) होती है मुक्त जीव ब्रह्म में लीन होकर नाम और रूप खो देता है और जैस न्याय माला में लिखा

है कि मुक्त का स्वरूपब्रह्म से अभिन्न होता है वह ब्रह्म को जानने वाल ब्रह्महो हो जाता है

" ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति "

श्री शंकराचार्यजी के पश्चात् श्री रामानुजाचार्य का सम्प्रदाय माना जाता है। इस सम्प्रदाय को विशिष्टाद्वैतवादी अपनाये हुए हैं इन के मत में अद्वैतवाद के प्रति उतनी श्रद्धा नहीं कि जितनी अधिकांश में परस्पर दोनों सम्प्रदायों के कई एक सिद्धान्त मिलने पर स्वाभाविकीय होनी चाहिये थी। विशिष्टाद्वैतवादी श्री रामानुजाचार्य की प्रशंसा करते हुये यह श्लोक पढ़ते हैं × × × × ×माया वाद भुजंग भंग गरुड़ स्त्रैविद्य चूड़ामणि:। × ×××× जैनेभ कण्ठीरव: इत्यादि अर्थात् मायावाद रूपी भुजंग (सर्प) को गरुड़ के समान नष्ट करने वाले तीनों विद्याओं अर्थात् ऋग, यजु, साम के ज्ञाताओं के चूड़ामणि और जैन रूपी हाथी के लिये कण्ठीरव अर्थात् सिंह के समान श्री रामानुजाचार्य जी थे। इससे इस समुदाय के भाव अद्वैत मत के प्रति कैसे हो सकते हैं वह इस प्रकार हैं। अद्वैतमत में ब्रह्म का स्वरूप निर्विकल्प, निर्गुण और समस्त विशेषण रहित माना गया है परन्तु श्री भाष्य २।३।१४-१० में यही विषय पूर्व पक्ष स्थापन करके लिखा है कि " ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्त है इन वाक्यों से निर्विशेष स्वप्रकाश ब्रह्म को बतला कर जब श्रुति नेति २ वाक्य से उसे निर्देश करती हैं तब इसके द्वारा उसका सर्वज्ञत्व, सत्य सकंल्पत्व, जगत्कारणत्व, अन्तर्यामित्व

सत्यकामत्व सगुणभावों का निषेध पाया जाता है इस से जाना जाता है कि वह भाव ठीक नहीं ऐसी दशा में ब्रह्म को सब दोषों से रहित और कल्याण गुणों का स्थान यह दो लिङ्ग किस प्रकार सिद्ध होंगे। और यह सिद्ध किया है कि वह उभय लिङ्ग है इससे यह प्रमाणित किया कि श्री शंकर के मत में निर्गुण ब्रह्म सत्य है न कि सगुण और रामानुजाचार्य के मत में ब्रह्म सगुण सत्य है निर्गुण नहीं। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म का कोई प्रमाण नहीं और जैसा सर्व दर्शन संग्रह में रामानुजदर्शन में लिखा है कि सविशेष ब्रह्म ही प्रामाणिक है। ब्रह्म सर्वदा माया विशिष्ट है। रामानुज स्वामी की परिभाषा में ब्रह्म निखिल हेय प्रत्यनीक और कल्याण-गुणगणाकर है और जैसा सर्व दर्शन संग्रह में लिखा है कि ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य यही है कि उस में प्राकृत हेय गुण का लेश भी नहीं है। ब्रह्म ही सगुण निर्गुण है वही ज्ञानगम्य है वह सत्वादि अखिल गुण युक्त है। विशिष्टाद्वैतमत में ब्रह्म ही जगत का कर्त्ता और उपादान कारण है वह समस्त भुवनों का उपादान कर्त्ता और अन्तर्यामी रूप से जीवों का नियामक है इस से यह सिद्ध हुआ कि रामानुजस्वामी ब्रह्म को जगत का निमित्त और उपादान दोनों मानते हैं उसी से जगत की स्थिति और प्रलय है परन्तु अद्वैत वादी इसी को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण करते हैं और "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" उनके मत का ब्रह्म स्वरूप लक्षण है परन्तु विशिष्टाद्वैतवादी तटस्थ और स्वरूप लक्षण का भेद नहीं मानते उनके मत में ब्रह्म का यही प्रकृत लक्षण है "द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडम जडमिति × × × तत्र जीवेश भेदात्" अर्थात् विशिष्टाद्वैत मत में द्रव्य दो प्रकार के हैं जड़ और अजड़। अजड़ = चित् को कहते हैं इसके दो भेद हैं जीव

और ईश्वर अतः जीव, ईश्वर, और जड़ तीन पदार्थ माने जाते हैं अद्वैत वादियों का यह कहना कि "ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ है और जीव तथा जगत प्रपंच रज्जुसर्प की भांति अविद्या की परिकल्पना है इस मत का खण्डन विशिष्टाद्वैतवादी इस प्रकार करते हैं कि चित् अचित् और ईश्वर यह तीन पदार्थ हैं चित्=भोक्ता, अचित्=भोग्य और ईश्वर,=नियामक है श्वेताश्वतर उपनिषद् के प्रमाण से कि जो ब्रह्म है वह अक्षर है उसीमें तीनों सुप्रतिष्ठित हैं उन तीनों में भोक्ता (जीव), भोग्य (जड़) और प्रेरिता (ईश्वर) है इसी का शंकरभाष्य में यह अर्थ है कि पुरुष प्रकृति और परमेश्वर यह ब्रह्म के तीन भाव हैं। प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र पदार्थ होने पर भी विशिष्टाद्वैत मत में यह नितान्त ईश्वराधीन हैं क्योंकि वह ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ही भोक्ता और भोग्य-पुरुष और प्रकृति-दोनों ही में अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म है। सर्व दर्शन संग्रह में इन के मत के विषय में इस का विचार इस प्रकार है कि भोक्ता और भोग्य ईश्वर का शरीर हैं जैसा श्री भाष्य २।१।१५ में कहा है कि कार्यावस्थापन्न और कारणावस्थापन्न चित् और अचित् स्थूल, सूक्ष्म सब वस्तु ही परब्रह्म का शरीर हैं। वह श्री शंकर के "नेह नानास्ति किंचन" के अर्थ की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि जहां नानात्व निषेध का उद्देश्य है वहां यह न समझना चाहिये कि जड़ और जीव मिथ्या कल्पना है किन्तु उन्हें (प्रकृति और पुरुष) को ब्रह्म का प्रकार मानना चाहिये। ब्रह्म के ही चित् और अचित् भेद हैं यही उसके शरीर हैं इस लिये इन्हें उसका प्रकारमात्र मानना चाहिये। "एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म का अर्थ रामानुजाचार्य के मत में यह है कि प्रलयकाल में जब प्रकृति और पुरुष नाम रूप के भेद से रहित हो कर ब्रह्म

में लीन होती है वह अव्याकृत अवस्था एक मेवा द्वितीयम है नकि श्री शंकर की मानी हुई कि "ब्रह्म के सिवाय कुछ है ही नहीं ?" वेदान्त तत्वसार में लिखा है कि प्रलय में सूक्ष्म भावापन्न जीव और जड़ ब्रह्म में लीन हो जाते हैं उस समय ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं अतः वह अद्वितीय कहा गया है। यद्यपि जगत अनादि होने से प्रलयकाल में ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। इसी भाव को विस्तार दे कर मानने के कारण विशिष्टा द्वैत वाद में ब्रह्म की दो अवस्थायें मानी जाती हैं (१) कार्यावस्था और (२) कारणावस्था। प्रलय काल में जब जड़ तथा जीव ब्रह्म में लीन हो जाते हैं और उस दशा में नामरूप का भेद नष्ट होता है तब इसी का नाम कारणावस्था है और चित् और जड़ रूप में विभक्त होकर व्यक्त स्थूल अवस्था को प्राप्त होता है उसे ब्रह्म की कार्यावस्था है। श्री भाष्य १।२।१ में भी यही लिखा है कि "पर ब्रह्म हि कारणावस्थं कार्यावस्थं स्थूल सूक्ष्म चिद् चिद् वस्तु शरीर तथा सर्वदा सर्वात्म भूतम्। श्री शंकर सम्प्रदाय में माना गया है कि "ब्रह्म को जान लेने पर सब शुद्ध जान लिया जाता है परन्तु रामानुजाचार्य कहते हैं कि इसका उद्देश्य यही है कि समस्त कार्य ही ब्रह्म हैं उसके कारण भूत ब्रह्म का ज्ञान होने से ही कार्य का ज्ञान हो जाता है श्री भाष्य २।१।१५ में लिखा है कि इस विषय का यह तत्व है कि ब्रह्म ही सदा "सर्व" शब्द का वाच्य है क्यों कि चित् और जड़ उसी के शरीर हैं उसकी कभी कार्या और कभी कारणावस्था में सूक्ष्मदशापन्न होने से नाम रूप रहित जीव और जड़ उस का शरीर होता है और कार्यावस्था में वह ब्रह्म स्थूलदशापन्न होने से नाम रूप के भेद के साथ विभिन्न जीव और जड़ उसके शरीर होते हैं क्योंकि ब्रह्म से उसका कार्य

जगत भिन्न नहीं है यद्यपि शास्त्रों में जगत को असत् अवश्य कहा गया है परन्तु रामानुजाचार्य के मत में इस का अर्थ यह नहीं जगत मायिक अथवा काल्पनिक है कि जैसा श्री शंकराचार्य जी को अभिप्रेत है। जगत को असत् इस लिये कहा गया है कि वह परिणामी है वह एक रूप में नहीं रहता।

श्री शंकर के इस सिद्धान्त के विरुद्ध कि "जगत भ्रम है" अथवा मायिक है "विशिष्टाद्वैतवादी अनेक युक्तियों द्वारा इसका निराकरण करते हैं उनका कहना है कि ;यदि कोई कहे कि वाह्यार्थ कुछ भी नहीं हैं किन्तु विज्ञान मात्र ही है उस का यह उत्तर है कि जब जगत की उपलब्धि होती है तब विज्ञान को छोड़ कर पदार्थ की सत्ता ही नहीं यह कथन सत्य ही नहीं क्योंकि जब तक विषय ज्ञाता के व्यवहार योग्य न होगा तब तक ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। व्यापार विषय के होने पर होता है और विचित्र विषय का ज्ञान भी वैसा ही होता है। अद्वैत वादियों का यह कहना कि जिस प्रकार स्वप्न का ज्ञान आलम्ब शून्य है उसी प्रकार जागरित ज्ञान भी है परन्तु रामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वप्न और जागरित दोनों ज्ञान समान नहीं हैं इस लिये स्वप्न ज्ञान के उदाहरण द्वारा जागरित ज्ञान को अर्थ शून्य कहना ठीक नहीं क्यों कि अर्थ शून्य ज्ञान का "भाव" असम्भव है क्यों कि कहीं न कहीं उसका वाधक होगा ही। इसी विषय को श्री भाष्य २। १। १६। २। १। ७ तथा २। १। १५ में रामानुजाचार्य ने बड़े विशद रूप से प्रमाणित किया है। अद्वैतवादी मानते हैं कि जीव और ब्रह्म स्वभाव से अभिन्न हैं परन्तु विशिष्टाद्वैत वादी को यह मत स्वीकार नहीं उनके मत में जीव और ब्रह्म तत्त्ववस्तु कही गई हैं। श्री भाष्य १। १। १ में कहा है कि

देह और आत्मा जिस प्रकार एक नहीं उसी प्रकार जीव और ब्रह्म भी एक नहीं विशिष्टाद्वैत वादी ब्रह्म सूत्र २।१।२०, २.३४६, १।३.४३ और १।३।४३ के आधार पर मानते हैं कि उपरोक्त सूत्रों में जो वादरायण ने जीव ब्रह्म का स्वरूप कहा है वह एक दूसरे के नितान्त विरुद्ध है। उदाहरण में "द्वासुपर्णा" आदि श्रुतियां और ब्रह्म सूत्रों में ही भेद व्यपदेशके लिये अधिक अवकाश है इस के अतिरिक्त "पति विश्वस्यात्मेश्वरम्" । आत्माधारोऽखिलाश्रयः आदि प्रमाण देते हैं। रामानुजाचार्य कहते हैं ब्रह्म जीव से स्वतन्त्र है। जीव तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित है इत्यादि वाक्य के समर्थक वेदान्त तत्व सारादि ग्रन्थ हैं जिन में लिखा है कि जीव और परमेश्वर का रूप एक नहीं जिस प्रकार प्रभा और प्रभावाला एक नहीं । प्रभास्थानीय जीव अंश है और परमात्मा अंशी है अतः दोनों प्रथक हैं। विशिष्टाद्वैत-वादी ब्रह्म को अखण्ड मानते हैं उस दशा में जीव ब्रह्म का खण्डन नहीं हो सकता और जहाँ ब्रह्म का अंश जीव कहा है वहाँ यह अर्थ है कि " जीव ब्रह्म की विभूति है जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंश है जिस प्रकार देह और देही का अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है । उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है वेदान्त सूत्र २।३।४५ तथा २।३।४३ में श्री भाष्य में इस का विस्तार दिया गया है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव नित्य वस्तु है यहां अद्वैत वादियों से इनका सिद्धान्त मिल जाता है परन्तु अद्वैत वादी जीव को विभु मानते हैं और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव अणु है इस के सहस्रों प्रमाण दिये गये हैं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में ईश्वर प्राप्ति ही जीव का पूर्व पुरुषार्थ है उस सिद्धि अथवा पुरुषार्थ की यह

पहिचान है कि पुनरावृत्ति रहित अक्षय सुख लाभ करना है। श्री यामुनाचार्य कहते हैं कि जिस साधक का अन्तःकरण ज्ञान और कर्म योग द्वारा शुद्ध हो गया है वह एकान्तिक और आत्मन्तिक भक्ति से ब्रह्म को प्राप्त होता है। अद्वैत वादियों की भाँति विशिष्टाद्वैत वादी सगुण और निर्गुण उपासना के दो प्रकार के फल नहीं मानते अतः रामानुजाचार्य कहते हैं कि परा विद्या में सब स्थान सगुण ब्रह्म की ही उपासना का विधान है इसके प्रमाण में वाक्यकार श्री ढंकर और बौधायन का प्रमाण दिया है कि अनुमोदित मुक्ति का स्वरूप क्या है? मुक्त पुरुष ब्रह्म के साथ मिल कर कभी एक नहीं होता वह ब्रह्म के स्वरूप को अवश्य प्राप्त होता है वह ब्रह्मोचित गुण लाभ करता है और मुक्त पुरुषों के ईश्वर के साथ समान गुण हो जाते हैं परन्तु सर्व कर्तृत्व ईश्वर के ही साथ रहता है श्री भाष्य १।१।१ में लिखा है कि साधन अनुष्ठान द्वारा अविद्या का नाश होने पर भी साधक परमेश्वर के साथ मिल कर एक नहीं हो जाता। जिसका आधार अविद्या हो उसके लिये क्या यह असम्भव है? वह कहते हैं कि शास्त्र में मुक्त को आत्मभाव और ब्रह्म भाव की प्राप्ति की जो बात है वह ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति ही समझनी चाहिये। मुक्त पुरुष सब विषयों को देखता है। सब विषयों को प्राप्त करता है वह ब्रह्म लोक में दिव्य चक्षु द्वारा समस्त काम्य वस्तुओं को देख कर रमण करता है यदि वह चाहता है कि पितृगण आजावें तो संकल्प मात्र से ही पितृगण आ जाते हैं सब देवता उसके लिये बलि देते हैं। विशिष्टाद्वैत-वाद में जो मुक्ति है वह अद्वैत वादियों से नितान्त भिन्न है क्यों कि श्री शंकर सम्प्रदाय में वह मोक्ष मानी गई है कि जिस में

मुक्त पुरुष ब्रह्म में मिल कर एक हो जावे परन्तु "गन्तव्यश्च परमं साम्यम्" ।३।३।२८ का सूत्राशय यही है कि "ब्रह्म के के साथ परम समीमता प्राप्त करना ही मुमुक्षाओं का लक्ष्य है।

यत्गत्वा न निवर्त्तन्तेतद्धाम परम मम।

श्रीशंकराचार्य तथा श्री रामानुजादि के इस अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की स्थापना ने यद्यपि, कापालिक शैव, चारवाक, आभाणक, बौद्ध तथा जैन मत के सिद्धान्तों से मुठभेड़ की परन्तु अध्यास और अलंकार के साथ तत्व विषय की रचना करने से अन्य मतावलम्बियों को भी अध्यास और अलंकारिक भाषा में अपने २ सिद्धान्तों को प्रमाणित करने का मार्ग खुल गया। उस के पीछे छाया वाद अथवा विम्ब प्रतिबिम्बवाद का आन्दोलन होता रहा परन्तु बौद्ध शास्त्र के माध्यमिक सम्प्रदाय कि जो सर्व शून्य वादी थे कि जिनका सिद्धान्त यह था कि जितने पदार्थ हैं वह आदि में नहीं होते अन्त में नहीं रहते और बीच में जो विदित होते हैं वह भी समय प्रतीत हैं फिर शून्य ही होता है इस ध्वंसा भाव सिद्धान्त तथा "योगाचार" जो वाह्य शून्य वादी थे कि जिनका सिद्धान्त था कि पदार्थ भीतर ज्ञान में भासते हैं बाहर नहीं क्यों कि भीतर ज्ञान न हो तो कोई यह नहीं कह सकता कि यह अमुक पदार्थ है तीसरा 'सौत्रान्तिक' जो बाहर ज्ञान न मान कर केवल वाह्य अर्थ को अनुमान वादी सम्प्रदाय है उसने यह सिद्धान्त माना हुआ था कि कोई पदार्थ सांगो पांग

प्रत्यक्ष नहीं किन्तु एक देश प्रत्यक्ष होने से शेष में अनुमान मात्र हैं इसी प्रकार 'वैभाषिक" शाखा वालों ने बाहर प्रत्यक्ष है नकि भीतर इत्यादि सिद्धान्तों के बल पर अपने २ सिद्धान्तों की गुप्त रीति से पुष्टि करते चले गये।

माध्यमिक क्षण २ में बुद्धि के परिणाम से पूर्व वस्तु के ज्ञान के पश्चात् वैसा ही पश्चात् न रहने से क्षणिक वादी हुये। योगाचार के सिद्धान्त में प्रकृति सब दुख रूप है क्यों कि प्राप्ति में कोई को पूर्ण संतुष्ट नहीं फिर प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है। सौत्रान्तिक के मत में सब पदार्थअपने २ लक्षणों से लक्षित होते हैं। वैभाषिक शून्य मानते हैं सारांश यह कि इस का अन्तरिक्ष प्रवाह इतना बढ़ा कि यह अद्वैत और विशिष्ट द्वैत तो दल और मठों के स्थापनों में प्रवृत्त हुये शुद्धा द्वैत वादी वल्लभ आचार्य भक्ति के भाजन भोग रागादि के साक्षी होकर अपनी २ रुचि के अनुकूल जिज्ञासु जनता को ले चले। जैनियों की स्याद वाद ने नित्यत्व सप्तभंगी, अनितत्व सप्तभंगी और नित्यत्व सप्तभंगी की भंग तरंग में सामान्य, धर्म विशेष धर्म गुण और पर्यायों की प्रत्येक वस्तु में सप्त भंगी मान कर अनन्त भंग की स्थापना करके बौद्ध न सही तो जैन 'जैसी सहो वैसी महो' 'अथवा" धोबी से क्या तेली घाट, इसके मुगरी उसके लाट की कहावत चरितार्थ करदी। संसार में उलटी गंगा बहने लगी इन्हीं सम्प्रदायों के फैले हुये भावों ने यूनान वेबोलियन मिश्र आदि फ़ारिस देशोंमें चीन जापान ब्रह्मा और लंका में इसी विचित्र शुष्कतर्क की ध्वनि फैलादी और पश्चिम देशों में समय २ पर बुद्ध का सिद्धान्त लेकर मसीह, शंकरा

चार्य का सिद्धान्त लेकर मुहम्मद, और इससे पूर्व इनके पुरुषा वाममार्ग, जैन और शैव धर्म पालन करते हुये उत्तरोत्तर इस मतविकाश के युग में भी धर्म परिवर्तन करते हुये नानापंथानुयाई होते गये और कोई व्यवस्था न रही।

तर्क—परन्तु सर्वत्र शुष्क और व्यर्थ तर्क व्यापक होगया। यूनान में सुक़रात, अफ़लातूं और अरस्तू की शिक्षा से पूर्व जो तर्क विद्यमान था उसके पर्य्यालोचना से विदित होता है कि यह तार्किक किस २ भांति तर्क पर पदार्थ सिद्ध करते और अपनी सम्प्रदाय बनाये हुये थे और यदि हम तत्कालीन भारतीय तर्कों की तुला पर उसे तौलें तो विदित होता है कि वह उतने ही थे कि जितने इससे गये हुये विचारों को वह परिशोधित मस्तिष्क शाली न होने से अपना न सकने के कारण उलटी सुलटी ऊहा पोहा करते थे अथवा क्या कहना अत्ययुक्ति न होगी कि उन देशों में तर्क संसकृति ने उनके ज्ञान और अनुभव के अनुसार ही स्थान पाया था इन में मिलिरस नामक सम्प्रदाय सृष्टि के उपादान कारण का विवेचन करता है तो थैलिस की यह सम्मति कि यह सृष्टि एक ही तत्व से बनी है और वह तत्व जल है और यही सब वनस्पतियां और पशु पक्षियोंके जीवन का आधार है एनैक्सिनेण्डर तार्किक कहता है कि जब कोई वास्तविक तत्व नहीं किन्तु वास्तविक तत्व से बने हुये पदार्थों में से एक है अतः सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है उसकी कोई आकृति विशेष नहीं वह प्रकृति ही विशेष आकृतियां धारण कर पृथ्वी जल और वायु की अवस्था में परिणत होता है और इसी से उत्पन्न होकर इसी में लीन हो जाती है एनेक्से मिनिज़ प्रायः थैलेसि तार्किक का

अनुमोदक है वह सृष्टि का उपादान आकार रहित प्रकृति नहीं मानता प्रत्युत जल के स्थान को वायु से शोभित करता है उसका यह तर्क है कि वायु देश की भी दृष्टि से अनन्त है काल की सीमा से निस्सीम अनादि है यह चारों ओर घेरे हुये सृष्टि का आश्रय और प्राण धार है। वायु सम सूक्ष्म अथवा स्थूल नहीं किन्तु इसके परिमाणु एक दूसरे के निकट आते हैं और प्रथक होते हैं। अधिक स्थूल होने से वायु से अग्नि उससे बादल उससे जल उससे भूमि और फिर पत्थर बनते हैं। इससे पता चलता है कि यह तार्किक वृत्ति केवल इस बात का बोध कराती है कि जिन दिनों यह तर्क था वह केवल तर्क था वह केवल तर्क की उन्नति प्रश्नों के उत्तर देने अथवा उन्नति भेद पर आश्रित था। किसी २ तार्किक ने यह माना कि अस्तित्व अचल रहता है परिवर्तन नहीं होता। दूसरे ने माना कि परिवर्तन स्वरूप शील है इसके अतिरिक्त किसी पदार्थ का स्वरूप ही नहीं है जिसको स्थिर मानते हैं वह उनकी स्वरूप कल्पना में है वह वस्तुतः संसार में नहीं तीसरे ने माना कि दोनों भावों में सत्यता का अणु रहता है परन्तु वह अपूर्ण है पदार्थ स्थिर रखने का अस्तित्व रखते हैं और परस्पर सम्बन्ध से परिणत होते रहते हैं। कोई परिवर्तन को मानता कोई केवल परिवर्तन पर विश्वास मात्र रखता और कोई परिवर्तन का समाधान करता था ज़िनोफ़ेनिज ने इलियां चटसाल से यह तर्क उठाया कि परिवर्तन एक भ्रम है। केवल एक परमात्मा है वह सब कुछ देखता है सब कुछ सुनता ज्ञान स्वरूप है वह जन्म मरण रहित है वही पूज्यनीय है। ज़िनो फ़िनिज़ के शिष्य परमेनिडिज़ ने गुरु

गौड़ पाद शिष्य शंकर की भांति अपने गुरु की शिक्षा को पूर्ण किया और एकावाद की नींव डाली उसने यह तर्क उठाया कि किस प्रकार कोई वस्तु अपने से भिन्न कुछ बन सकती है जो पदार्थ जैसा है उसके अतिरिक्त कुछ बनना असम्भव है। सत्य, ज्ञान, इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता। वह (ब्रह्म) एक तत्व समरस रहता है। वह दृश्य जगत में प्रकाश और अन्धकार दो वस्तुयें मानता है। दृश्य सृष्टि में बड़ी अग्नि है इसका तर्क क्रिया के विरुद्ध है वह कहता है कि हम के विन्दु से चल कर रथ तक नहीं पहुंच सकते क्योंकि उसके प्रत्येक भाग दो भागों में विभक्त हो सकते हैं और कोई ऐसी परिमावधि नहीं कि जहां विभाग असम्भव हो।

" हिरे क्लिटस " मानता है कि परिवर्तन ही जगत में राज्य कर रहा है वह सृष्टि को सदा से मानता है और उसे सदैव बनी रहने वाला भी कहता है इसके मत में परिवर्त्तन एक ऐसा नियम है कि सारे संसार का शासक है कोई वस्तु एक अवस्था में थिर नहीं यह परिवर्त्तन संग्राम द्वारा होता है नकि शान्ति द्वारा। वास्तविकतत्व अग्नि है इसी से उत्तरोत्तर तत्व बन कर फिर अग्नि ही में चले जाते हैं। पृथ्वी के पदार्थ बुझी हुई अग्नि है। वायु मण्डल और पानी वह अग्नि है जो बुझ रही है मृत्यु नये जीवन का नाम है इस सृष्टि के नाश होने पर इसी की भस्म से फिर सृष्टि बनती है। इत्यादि।

"पैथागुरस" का तर्क विज्ञान पर नहीं किन्तु उसका आधार गणित है वह मानता है कि साम्यता की सहायता से सृष्टि का उसकी वर्तमान अवस्था में लाने वाले पदार्थ प्राकृतिक नहीं

किन्तु संख्यायें हैं। राग का निर्भर तुल्यता पर है सक्रिय तारागणों में जो दूरी है वह स्वरों की संख्या की अपेक्षा रखते हैं। बुद्धि एकत्व है उस में परिवर्त्तन नहीं। दो सम्मति और तीन पूर्णता हैं इस में आदि मध्य और अन्त हैं। चार दो का वर्ग होने से न्याय है। पाञ्च विवाह है क्योंकि इसमें युग्म और अयुग्म का मिलाप है। दश पहिली चार संख्याओं का योग्य है इस लिये यह पवित्र है। पैथा गुरिस आत्मा का आवागमन मानता है और उसके नित्य होने की शिक्षा देता है इत्यादि।
" एम्पीडौक्लिज " केवल भावको मान कर एक तत्व उपादान कारण स्वीकार करता है वह कहता है यही जल, अग्नि और वायु की भावना है वास्तव में यह तत्व एक दूसरे में परिणत नहीं हो सकते और इन्हीं में प्रेम और द्वेष का राज्य होता रहता है। यह दीर्घ आयु होना " शोपन हार " की भांति द्वेष के राज्य की स्थापना मानता है वह परमात्मा को सर्वत्र व्यापक मानता है परन्तु चार तत्वों के संयोग से उत्पन्न देवताओं का भी भक्त है उनका दीर्घ जीवन मान कर उन्हें द्वेष का साम्राज्य स्थापक मानता है। परमाणु वादियों में डेमोक्रिट्स प्रसिद्ध है उसी प्रकार निमित्त कारण वाद के लिये " एनेक्सा गोरस " तार्किक समझा जाता है जब यूनान में निरपेक्षावाद का समय समाप्त हुआ तो " प्रोटे गरस " " गार गियस " तार्किक खड़े हुये। पूर्व कहता है कि मनुष्य सब का परीक्षक है जो कुछ उसे सत्य ज्ञान होता है वही सत्य है। मेरे लिये वही कर्त्तव्य है जो मुझे भाता है धर्म भी सत्य के सदृश आत्मगत अस्तित्व रखता है। पाश्चात् का तार्किक मानता है कि सत्य सर्वगत अस्तित्व नहीं रखता। इन अति तार्किकों ने

लोगों की आत्माओं को अस्थिर कर दिया। * सारांश यह कि वहां पर यदि हम तुलनात्मक तर्क पर उतर आवें तो सिद्ध हो सकता है कि पश्चिमी तर्क की भीत भारतीय आचार्यों के भावों पर आधारित होती है पूर्व और पश्चात् के समस्त तर्क भारतीय दर्शनों के पूर्व और उत्तर पक्षों में ही आ जाते हैं अब यह विचारना है कि जिस तर्क से लाभ होना चाहिये था वहां पर सत्य पारमार्थिक वस्तु किस प्रकार अन्तर्हित (गुप्त) हो गई और शनैः२ उसे यदि लोप होना न माने तो उस रूप में अवश्य परिवर्त्तन स्वीकार करना होगा। हम ईश्वर, जीव, और प्रकृति के वाद में पड़े हुये जगत की उन्नति के सौन्दर्य को नष्ट कर रहे हैं संसार को दुख रूप केवल इन मिथ्या भावनाओं के ही वश बना रहे हैं इस लिये जिस ज्ञान से अभ्युदय और निःश्रेय सिद्धि हो वही आचरण सुखदाई है जब हमारा अभ्युदय होगा हमारा समस्त तर्क लाभ दायक होगा जिनको अभ्युदय प्राप्त है वह यद्यपि निश्रेयस तत्व से कोसों दूर हैं तथापि जीवन मुक्त हैं जीवनचर्य्या सानन्द व्यतीत होती है यह उनका प्रमाद है कि जो ईश्वर के भक्त न बने और इस अभ्युदय को पारमार्थिक वस्तु मान लें। शक्ति से धर्म की रक्षा है, केवल धर्म और केवल शक्ति और धर्म का ढकोसला है। भारतीय धर्म की हानि अभ्युदय शक्ति के नष्ट होने से उत्तम होते हुये भी उसे अधम अपनाते नहीं हैं क्योंकि हम पर धर्म

---

* "तर्क विवेचन" नामक पुस्तक में इन सब परदेशी तार्किकों के विचार तुलनात्मक लिखे जावेंगे।

और उन पर शक्ति है शक्ति शाली अपना मनोनीत धर्म मानने लगते हैं और सार्व भौम धर्म को उपहास में बिता देते हैं। भारतीय शिक्षित जनता को विचारना योग्य है कि क्या देश और क्या व्यापार है ईश्वर मोक्ष के लिये है परन्तु उसकी साधना के लिये इन्द्रियों की रक्षा भी आवश्यक है नहीं तो काम्य कर्म किस प्रकार हो कर जगत का कल्याण हो सकेगा। हमारा जगत जब हम को ही सुखदाई नहीं तो दूसरे का सुखदाई जगत हमें किस प्रकार आनन्दित कर सकता है। प्रकृति और परमात्मा में भेद है। शक्ति और धर्म भी अपने २ गुणों के साथ मानी जानी चाहिये सर्वत्र धर्म और सर्वत्र शक्ति जीव को शान्ति देने वाली नहीं किन्तु उसका सदुपयोग लाभ दायक होता है। हमारे देश में अभ्युदय की हानि में अतिधर्म चर्चा है अति सर्वत्र इसी लिये बुरी है कि वह आचरण में आने वाली वस्तु नहीं उस से अस्तित्व नहीं रहता परिवर्त्तन हो जाता है महाराज हरिश्चन्द्र तथा बलि अति दान और अति सत्य से अपनी पूर्व अवस्था से गिर गये फिर वह बात उन्हें एक वार भी प्राप्त न हुई कि वैसा फिर एक वार भी अतिदान कर लेते। संशोधन और सुधार नवीन जीवन है प्रति स्पर्द्धा सत्यगुणों की अच्छी है मायिक बातों ने भूलना स्वाराज्य सिद्धि नहीं। मिश्री की छुरी से पेट नहीं फाड़ा जाता, दूसरे के भावों से भारतीय हृदय नहीं रह सकता। अपने भेष से स्वदेशी और दूसरे के भेष से परदेशी होना स्वतः सिद्धान्त है। शिक्षणक्रम अपना हो जिससे आत्मलाभ हो आत्म-हानि महानहानि है उससे आत्माभिमान नहीं रहता फिर इस शरीर देश का अभिमानी देव जीव कहां रहेगा। ब्रह्म व्यापक

है । परन्तु जीव भी तो एक देशीय व्यापक है इस से क्या यह शिक्षा लेनी चाहिये कि सर्व व्यापक के सामने एक देशीय व्यापक अपनी सत्ता नष्ट कर दे । यदि सत्ता का ह्रास न होगा तो यही जीव साम्राज्य सौख्य के गुण कर्मों का अधिकारी बन सकेगा। पशुबल से सुमतिबल की प्रधानता है वह सदैव रहेगी। हमने इन व्यर्थ विवादों को उत्पन्न करके भिन्न २ पन्थ बना डाले अपनी २ टोलियां बना लीं क्या कोई कह सकता है कि इस से आत्मलाभ हुआ या आगे भी होगा। थोड़े २ दिनों सब पन्थों के नेताओं ने राज्य स्थापन कर राज धर्म बना डाले परन्तु राज्य नष्ट होने से वह धर्म विधवाओं की भांति अनधिकारियों का आलिंगन करता हुआ देखा जाता है धर्म पृथ्वी और स्त्री बलवान के समीप शोभा देते हैं। इस लिये प्राचीन ऋषि मुनियों द्वारा वर्णित सत्य तर्क के आश्रित जो ईश्वर, जीव और प्रकृति की व्यवस्था है ऐसा मानना चाहिये हमारी गिरती हुई सभ्यता के दिनों में योगीराज श्री कृष्णचन्द्र जी ने गीता में इन अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद विशुद्धाद्वैतवाद बिम्ब प्रतिबिम्ब वाद और अन्य ईश्वर और जीव में विश्वास न रखने वालों तार्किकों का पूर्वपक्ष उठाकर जिस पर यथार्थ निरुपण किया है वह विचारना चाहिये वही वैदिक द्वैत मत है। उसी से ईश्वर और जीव का स्वामि, सेवक, भाव उपासना और यज्ञ तथा कर्मकाण्ड की संगति बैठती है * जितने सिद्धान्त आज कल भारतवर्ष और उस से

---

* निजगुण कर्म स्वभावनें जीव प्रकृति अरु ईश । सदा परस्पर भिन्न हैं मानत सकल मुनीश । मदीय रचित " त्रय तत्व प्रकाश "

बाहर देशों में फैले हैं उन्हें पूर्व पक्ष के अन्तर्गत मान कर उत्तर पक्ष सार्वभौमिक सिद्धान्त " सत्य वैदिक द्वैत सिद्धान्त अथवा जिसमें बिना अभ्यास और रूपक और आलङ्कारिक परिभाषा निर्माण किये बिना ईश्वर, जीव और प्रकृति का प्राचीन" "त्रैवाद" सिद्ध होता है वही " भिक्षु सूत्रो " जिन्हें ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त दर्शन कहते हैं उस में वर्णन किया है वही माननीय है। व्यास जी ने कृष्णार्जुन सम्वाद रूपी " गीता " में वैदिक सिद्धान्त इस प्रकार बतलाये हैं कि जिनकी श्रुति स्मृति उपनिषद् और दर्शनों से संगति मिलती है जैसे संसार में यह प्रश्न है कि " जगत सत्य है अथवा मिथ्या " इस का उत्तर है कि बीजांकुर न्याय से हम यह देखते हैं कि, बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की उत्पत्ति होती है और इस क्रमान्वय से वृक्ष का आविर्भाव और बीज में वृक्ष का तिरोभाव संघटित होता रहता है। सृष्टि के समय जगत अव्यक्त से व्यक्त होता है और पुनः प्रलय के समय व्यक्त से अव्यक्त हो जाता है कि जिस प्रकार कहा जाता है कि जिससे सब ये भूत उत्पन्न होते हैं जिसके द्वारा उत्पन्न हुये जीव जीवित रहते हैं और अन्तकाल में लीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है जगत के इस आविर्भाव काल को ब्रह्मा का दिन और तिरोभाव काल को ब्रह्मा की रात्रि कहते हैं यद्यपि यह सत्य सिद्धान्त है परन्तु शंकराचार्य जी इस का अर्थ कुछ और ही करते हैं उनके यहां अवयक्त का अर्थ ब्रह्मा की निद्रावस्था है जो ठीक नहीं। अर्थ वही होना चाहिये जो ठीक हो सरांश यह कि प्रकृति में स्थित होकर परमात्मा जगत की सृष्टि करते हैं इसी का नाम ईक्षण है और सांख्य शास्त्रोक्त प्रधान

अथवा मूल प्रकृति में वह गर्भधारण करता है उस से सृष्टि होती है इस से यह सिद्ध होता है कि जगत का मिथ्यात्व अथवा जगत काल्पनिक है, विज्ञान मात्र है यह मानना ठीक नहीं किन्तु सत् का अभाव नहीं होता और असत् का भाव नहीं होता परिणाम सत्य है और सांख्यशास्त्र का सृष्टि विकाशक्रम सर्वथा सत्य है। यद्यपि श्री शङ्कर इसको नहीं मानते परन्तु रामानुजाचार्य मानते हैं। कारण वाद के प्रकरण में दो प्रकार का कारणमाना गया है एक निमित्त और दूसरा उपादान और जहां यह प्रश्न है कि ब्रह्म इन दोनों में से सृष्टि का कौनसा कारण है तोव्यास जी निमित्त और उपादान दोनों ही कारण मानते हैं यद्यपि न्याय माला में भारती तीर्थ ब्रह्म को ही जगत का बनाने वाला स्वीकार करते हैं फिर अद्वैतवादियों को न जाने संसार मिथ्यात्व की कल्पना क्यों करनी पड़ी। जब व्यास जी यह मानते हैं कि जगत अचेतन है ब्रह्म चेतन है यद्यपि यहां चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत की उत्पत्ति पर आपत्ति हो सकती है परन्तु यहां व्याप्ति का अभिचार न मान कर वह उदाहरण देते हैं कि चेतन से अचेतन पदार्थों की उत्पत्ति पाई जाती है कि किस प्रकार चेतन पुरुष से अचेतन नख केशादि उत्पन्न होते हैं। यह आपत्ति की जाती है कि ब्रह्म निरवयव है यह जगत ब्रह्म का परिणाम है वहां यह विचार करना चाहिये कि उसके एक अंश में सब भूत हैं शेष तीन अमृत हैं। इस आपत्ति करने पर कि जब ब्रह्म विकरण अर्थात् निराकार है तो सृष्टि क्रिया सम्पादन किस प्रकार कर सकता है तो माना जाता है कि वह विना इन्द्रियों के सब कुछ करता है। यदि यह आपत्ति की जावे कि आप्त काम ब्रह्म को किस लिये

सृष्टि की आवश्यकता हुई तो कहा जासकता है कि सृष्ट उस की लीला का विलास है। यदि फिर भी यह आपत्ति की जावे कि जगत् में अनेक विषमतायें हैं, कोई दुखी सुखी धनी, दरिद्री, तब ईश्वर की रचना में पक्षपात आता है तब कहा जा सकता है कि जीव के कर्मानुसार ही सृष्टि हुआ करती है जब यह सृष्टि का क्रम है तो माया वादियों द्वारा मानी हुई सृष्टि अलीक व मिथ्या कैसे हो सकती है जो वस्तु है उसी की उपलब्धि है जो नहीं है उसकी उपलब्धि नहीं यह दृढ़ सिद्धान्त है। जगत और ब्रह्म अनन्त हैं। ब्रह्म सर्वगत है अचल और आकाश की भांति नित्य व्यापक है।

जीव और ब्रह्म के विषय में जो अद्वैतमत के विचार इस प्रकार संसार में फैल रहे हैं कि जीव और ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं और दोनों में जो भेद है वह उपाधि कृत है। अविद्यां कल्पित है। माया की एक शक्ति है उसी के कारण जीव ईश्वर को त्याग कर शोक मोह में फंसता है और विशिष्टा द्वैत में जीव और ब्रह्म भिन्न २ हैं जीव नियम्य और ब्रह्म नियामक, जीव व्याप्य और ब्रह्म व्यापक, जीव अणु और ब्रह्म विभु का मन्तव्य उक्त अद्वैत से अधिक सत्य है क्यों कि इसी सिद्धान्त का समर्थन वेदादि सत्शास्त्रों में पाया जाता है फिर भी शंकर का मन्तव्य किस प्रकार वैदिक हो सकता है। श्री धर स्वामी अद्वैत वादी होते हुये भी जीव ब्रह्म की यही संगति लगाते हैं कि जो उपनिषदों में है वह, मधुसूदन सरस्वती, निश्चल दास, चिद्धानानन्द और पंच दशी के कर्त्ता स्वामी विद्यारण्य आदि से इस विषय में ऊंचे हैं जो जीव ब्रह्म का स्वरूप से अभेद मान कर विवर्त्त वाद द्वारा

जीव ब्रह्मैक वाद के समर्थक हैं। जीव के अणु और विभु मानने के विवाद पर जिस में व्यास जी के इस सूत्र कि " जो दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के १६ वें सूत्र से लेकर २३ वें सूत्र पर्यन्त व्यवस्था की गई है वही सत्य सिद्धान्त है श्री शंकराचार्य का यह कहना है कि यह सूत्र पूर्व पक्ष में हैं परन्तु रामानुजाचार्य इसे सिद्धान्त सूत्र मानते हैं इस में भी विवाद का अवकाश नहीं क्यों कि व्यास जी जीव को अणु परिमाण मानते हैं जो उपाधि की सूक्ष्मता के कारण मानी जाती है यहां इस छोटी सी व्याख्या में समास रूप ही समझ लेना चाहिये " ज्ञा ज्ञौ द्वौ ईशानी शौ " एक अज्ञ है और एक प्राज्ञ है एक अनीश है और एक ईश ही मानना वेदानुकूल है

ब्रह्म का स्वरूप क्या है इस प्रश्न पर सत् चित् आनन्द स्वरूप मानना ही ब्रह्म की श्रुति सम्मति स्वरूप है वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव पर ब्रह्म पूर्ण और अमृत है अजर, अमर अभय, अमेय, अव्यय सनातन परम पुरुष है। चराचर विश्व उसमें स्थित है सम्पूर्ण भुत उस के सूत में मणियों की भांति गुथे हुये हैं जिस का विस्तार पूर्वक वर्णन उपनिषदों में पाया जाता है वही सर्वेश्वर सर्वाधार अखण्डैक रस निर्गुण ब्रह्म है। उसी की उपासना से मुक्ति है वही सत्य संकल्प और सत्य काम, सर्ववित् और सर्वज्ञ ब्रह्म है। जब इस प्रकार की ईश्वर जीव और प्रकृति की व्यवस्था है तो नवीन और आधुनिक किसी भी देशी अथवा* विदेशी तार्किकों का तर्क

* मेरी इच्छा थी कि यहां समस्त विदेशी तार्किकों के सिद्धान्त और तर्कों को लिखता परन्तु पुस्तक बढ़ने के भय से छोड़ देना ही पड़ा।

ऐसा नहीं कि जो इस पर ठहर सके। इस लिये जो तर्क के अनुकूल सत्य सिद्ध हो वही सत्य वैदिक धर्म है व्यर्थ वितंडा नहीं करना चाहिये और जो लोग तर्क को अप्रतिष्ठित मान कर ब्रह्म के विषय में तर्क ही नही करना चाहते अथवा ब्रह्म को तर्क का विषय ही नहीं मानते उन्हें श्री उदयनाचार्य की बनाई 'किरणावली" के और न्याय कुसुमांजलि का यह वाक्य अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि

"न्याय चर्चेय मीशस्य मनन व्यप देश भाव"

कुसुमाञ्जलि १ । ३ ।

अर्थात् यदि तर्क द्वारा भी ईश्वर सिद्ध न हो तो नैयायिकों का श्रम ही निष्फल हो जायगा। सारांश यह कि न्यायानु-मोदित तर्क अवश्य ईश्वर की सिद्धि के काम में लाना चाहिये। विश्वनाथ वृत्तिकार कहते हैं कि पूर्वोत्तर पक्ष द्वारा ही किसी वस्तु की सिद्धि हो सकती है परन्तु वात्स्यायन जो ईश्वर को तर्क का विषय होना अभिमत नहीं करते वह केवल वितण्डा वाद होने की ही आशंका से है और उस तर्क की अप्रतिष्ठा करते हैं नहीं तो 'तर्क एव ऋषिः"। यस्तर्केणानु सन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः आदि असंख्य प्रमाण तर्क के समर्थक पाये जाते हैं। सत्य तर्क के आश्रित मेधा शुद्ध और

ब्रह्म स्वरूप ग्राह्य बनती है। हमें सत्य के अनुमोदन और समर्थन में कभी अन्तः करण को नहीं कराना चाहिये । सत्य सदा से है सदा रहेगा। ईश्वर भी सत्य है सत्य सत्य ही है।

इति श्री पं० लालमणि दीक्षित सुसु श्री पं०
चन्द्रिका प्रसादात्मज पं० गोकुल चन्द्र
दीक्षित विरचित्त वेदान्त रहस्य
नाम्नि व्याख्या पूर्तिमगात्
शुभम भूयात् ।

प्रेमसिंह विष्ट (गोरखा)
प्रथम वर्ष
२४ नवम्बर १९३२